MPAM-605

संगीत शास्त्र II

एम0पी0ए0 संगीत – चतुर्थ सेमेस्टर

संगीत, नृत्य एवं कला प्रदर्शन विभाग

मानविकी विद्याशाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

MPAM-605

संगीत शास्त्र II

एम0पी0ए0 संगीत – चतुर्थ सेमेस्टर

संगीत, नृत्य एवं कला प्रदर्शन विभाग

मानविकी विद्याशाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
तीनपानी बाईपास रोड, ट्रान्सपोर्ट नगर के पीछे,
हल्द्वानी, जिला नैनीताल, पिनकोड–263139
फोन नं0 : 05946–286000 / 01 / 02
फैक्स नं0 : 05946–264232,
टोल फ्री नं0 : 18001804025
ई–मेल : **info@uou.ac.in**
वेबसाईट : **www.uou.ac.in**

MPAM-605

अध्ययन मण्डल

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

प्रो0 एच0 पी0 शुक्ल(संयोजक)
निदेशक–मानविकी विद्याशाखा,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

डॉ0 विजय कृष्ण (सदस्य)
पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग,
डी0एस0बी0 कैम्पस, नैनीताल,
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

डॉ0 आशा पाण्डे कृष्ण (सदस्य)
विभागाध्यक्षा, संगीत विभाग,
एच0एन0बी0 गढ़वाल विश्वविद्यालय,
श्रीनगर

डॉ0 मल्लिका बैनर्जी (सदस्य)
संगीत विभाग,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त
विश्वविद्यालय, दिल्ली

द्विजेश उपाध्याय (सदस्य)
सहायक प्राध्यापक (ए.सी.)
संगीत, नृत्य एवं कला प्रदर्शन विभाग,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

पाठ्यक्रम संयोजन, प्रूफ रिडिंग एवं फार्मेटिंग

प्रदीप कुमार
सहायक प्राध्यापक
संगीत नृत्य एवं कला प्रदर्शन विभाग,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

द्विजेश उपाध्याय
सहायक प्राध्यापक (ए.सी.)
संगीत नृत्य एवं कला प्रदर्शन विभाग,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

अशोक चन्द्र टम्टा
सहायक प्राध्यापक(ए.सी.)
संगीत नृत्य एवं कला प्रदर्शन विभाग,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

जगमोहन परगांई
सहायक प्राध्यापक(ए.सी.)
संगीत नृत्य एवं कला प्रदर्शन विभाग,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

प्रकाश चन्द्र आर्य
सहायक प्राध्यापक(ए.सी.)
संगीत नृत्य एवं कला प्रदर्शन विभाग,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

पाठ्यक्रम संपादन

डॉ0 विजय कृष्ण
पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग,
डी0एस0बी0 कैम्पस, नैनीताल,
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

डॉ0 चन्द्रशेखर तिवारी
वरिष्ठ संगीतज्ञ,
हल्द्वानी, नैनीताल

डॉ0 रेखा साह
पूर्व विभागाध्यक्षा, संगीत विभाग,
डी0एस0बी0 कैम्पस, नैनीताल,
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

द्विजेश उपाध्याय
सहायक प्राध्यापक (ए.सी.) –संगीत, नृत्य एवं कला प्रदर्शन विभाग,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखन

1.	**डॉ0 महेश पाण्डे**	इकाई 1, 2
2.	**डॉ0 संध्या रानी**	इकाई 3
3.	**डॉ0 रेखा शाह**	इकाई 4, 5

कापीराइट : @उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
संस्करण : सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति
प्रकाशन वर्ष : जनवरी सत्र 2022,
प्रकाशक : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल–263139
ई–मेल : books@uou.ac.in

इस सामग्री के किसी भी अंश को उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी, चकमुद्रण द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

एम0पी0ए0 संगीत – चतुर्थ सेमेस्टर
संगीत शास्त्र II – एम0पी0ए0एम0–605

इकाई	इकाई का नाम	पृष्ठ
इकाई 1	शारंगदेव के अनुसार संगीत की व्याख्या।	01–14
इकाई 2	रामायण एवं महाभारत काल में संगीत।	15–27
इकाई 3	दक्षिण भारतीय संगीत का सामान्य अध्ययन।	28–42
इकाई 4	शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत।	43–53
इकाई 5	उत्तराखण्ड का लोक संगीत।	54–67

इकाई 1 – शारंगदेव के अनुसार संगीत की व्याख्या

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 भारतीय संगीत से सम्बन्धित प्रमुख ग्रन्थकार
1.4 पं0 शारंगदेव रचित ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' के अध्यायों में संगीत की व्याख्या
1.4.1 स्वराध्याय
1.4.2 राग विवेकाध्याय
1.4.3 प्रकीर्णाध्याय
1.4.4 प्रबन्धाध्याय
1.4.5 तालाध्याय
1.4.6 वाद्याध्याय
1.4.7 नृत्याध्याय
1.5 सारांश
1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई प्रदर्शन कला–संगीत में स्नातकोत्तर, चतुर्थ सेमेस्टर (एम0पी0ए0एम0–605) पाठ्यक्रम की प्रथम इकाई है। पूर्व की इकाईयों में आपने आलाप, तान, बंदिशों एवं स्वर सौन्दर्य एवं इनके प्रयोग के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की। अब आप बता सकते हैं कि प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रंथकारों ने भारतीय संगीत पद्धति के विविध पक्षों को अपने विशिष्ट सांगीतिक ज्ञान से किस प्रकार उजागर किया है।

मध्यकाल के प्रमुख ग्रंथकारों जैसे पं0 शारंगदेव, पं0 अहोबल, पं0 श्रीनिवास, पं0 रामामात्य आदि ने विशेष रुप से संगीत के विविध पक्षों को अपने ग्रन्थों में स्थान देकर यह सिद्ध किया है कि मध्यकाल में भी संगीत के विविध पक्ष विकसित अवस्था में थे। इस इकाई मे मुख्य रुप से मध्यकाल के सबसे महत्वपूर्ण सांगीतिक ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' का सविस्तार वर्णन किया गया है।

इसके अध्ययन के पश्चात् आप सांगीतिक ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' के विविध पक्षों को जानने के साथ वर्तमान में इससे जुड़े सभी सांगीतिक खोजों के विषय में तुलनात्मक अध्ययन कर सकेंगे।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :–

- बता सकेंगे कि वर्तमान में स्वर, राग, जाति, ताल इत्यादि मूल सांगीतिक तत्वों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है?
- समझा सकेंगे कि मध्यकाल में उल्लिखित अनेक महत्वपूर्ण सांगीतिक ग्रन्थों का एक दूसरे से क्या संबंध है?
- बता सकेंगे कि सांगीतिक सामग्री की मध्यकाल में क्या स्थिति थी तथा इसका विकास शनै–शनै एक श्रृंखलाबद्ध रुप में हुआ है।

1.3 भारतीय संगीत से सम्बन्धित प्रमुख ग्रन्थकार

संगीत सदा संस्कृति का संगी रहा है। संगीत के इतिहास को संस्कृति के इतिहास से अलग नहीं किया जा सकता है। भरत, मंतग, शारंगदेव, दामोदर तथा रामामात्य आदि की कृतियाँ संगीत की दृष्टि से महत्वपूर्ण रही हैं। भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' संगीत एवं नाट्य का विश्वकोष है। स्वर के सूक्ष्मतम रूप श्रुति की व्याख्या सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में पायी जाती है। इसके पश्चात मतंग कृत 'बृहद्देशी' में विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित संगीत शैलियों पर प्रकाश डाला गया है तथा वर्तमान संगीत में महत्वपूर्ण 'राग' नामक वस्तु का विवेचन भी सर्वप्रथम इसी ग्रंथ में पाया गया है। इसके पश्चात शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर ग्रंथ उत्तरी एवं दक्षिणी संगीत दोनों के लिए महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। गायन, वादन, नृत्य इन तीनों कलाओं का पूर्ण विवरण इस ग्रंथ में मिलता है।

संगीत–रत्नाकर भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्राचीन ग्राम–मूर्च्छना प्रणाली से सम्बन्धित संगीत विद्या का प्रतिपादक अन्तिम आधार ग्रन्थ है। मध्यकाल तक सभ्यता के सभी युगों में संगीत की उन्नत अवस्था का परिचय प्राप्त होता है जिसमें गायन, वादन, नृत्य और नाट्य को आवश्यकतानुसार महत्व एवं प्रश्रय प्राप्त था।

अतः विभिन्न कालों में लिखित ग्रन्थों में जो संगीत के सिद्धान्त और नियम बताए गए हैं वे अब भी मान्य हैं। परन्तु इस पद्धति का विस्तृत पालन वर्तमान में नहीं होता है। संगीत शास्त्र सम्बन्धी

विशिष्ट जानकारी जो हमें प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रन्थों में प्राप्त होती है उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आज भी पूरी सांगीतिक व्यवस्था टिकी हुई है।

1.4 पं0 शारंगदेव रचित ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' के अध्यायों में संगीत की व्याख्या

संगीत–रत्नाकर भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्राचीन ग्राम–मूर्च्छना प्रणाली से सम्बन्धित संगीत विद्या का प्रतिपादक अन्तिम आधार ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य शारंगदेव हैं। इसका रचनाकाल सन् 1210 से 1247 ई0 के मध्य है। शारंगदेव के पूर्वज कश्मीर के मूल निवासी थे जो कालान्तर में आव्रजन द्वारा जैत्रपद (दक्षिण भारत) में बस गए। जैत्रपद के राजा सिधण के संरक्षण में इन्हें संगीत–विद्या को पुष्पित–पल्लवित करने का अनुकूल वातावरण प्राप्त हुआ।

कालान्तर में पन्द्रहवीं शताब्दी में राणा कुम्भा द्वारा रचित ग्रन्थ 'संगीत–राज' का उल्लेख आता है जो ग्राम–मूर्च्छना पद्धति पर आधारित है परन्तु अभी तक इसके पाँच अध्यायों में मात्र दो ही अध्याय प्रकाशित हैं।

वातावरण – भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं संगीत पर चिरकाल से विदेशी आक्रमणकारियों के प्रहार होते रहे हैं, परन्तु भारत की जलवायु में विपरीत परिस्थितियों से तालमेल करते हुए सुर–ताल का साम्राज्य स्थापित करके अपने मूल स्वरुप को विद्यमान रखने की अभूतपूर्व क्षमता है। इस परिप्रेक्ष्य में जब भारतीय–संस्कृति एवं संगीत पर विदेशियों का आक्रमण हो रहा था उस समय संगीत, साहित्य एवं संस्कृति को बचाने के लिए लक्षण एवं आधार–ग्रन्थों की रचनाएँ हुई, जिनमें मम्मट रचित साहित्यिक ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' एवं संगीत के क्षेत्र में 'संगीत रत्नाकर' का स्थान सर्वोपरि है।

विषय–वस्तु – संगीत–रत्नाकर' में निम्नलिखित सात अध्याय हैः–

1. स्वराध्याय 2. रागविवेकाध्याय 3. प्रकीर्णकाध्याय 4. प्रबन्धाध्याय
5. तालाध्याय 6. वाद्याध्याय और 7. नृत्याध्याय।

संगीत–रत्नाकर में वर्णित सातों अध्यायों का विवरण निम्नवत् हैः–

1.4.1 स्वराध्याय – स्वराध्याय को आठ प्रकरणों में विभक्त किया गया है। पदार्थ संग्रह नामक खण्ड के प्रारम्भिक 14 श्लोकों में लेखक ने अपना एवं अपने आश्रयदाता का परिचय दिया है। तत्पश्चात् उन्तालीस पूर्वाचार्यों के नामों का उल्लेख है जिनके ग्रन्थों का मन्थन करके शारंगदेव ने 'संगीत–रत्नाकर' की रचना की।इन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैः–

क्रम संख्या	आचार्यों के नाम	क्रम संख्या	आचार्यों के नाम
1	सदाशिव	21	आज्ञनेय
2	शिवा	22	मातृगुप्त
3	ब्रहमा	23	रावण
4	भरत	24	नन्दिकेश्वर
5	कश्यप	25	बिन्दुराज
6	मतंगमुनि	26	क्षेत्रराज
7	याष्टिक	27	राहल
8	दुर्गाशक्ति	28	रुद्रट
9	शार्दूल	29	नान्यभूपाल
10	कोहल	30	भोज
11	विशाखिल	31	परमर्दी

12	दत्तिल	32	सोमेश
13	कम्बल	33	जगदेकमल्ल
14	अश्वतर	34	अभिनवगुप्त
15	वायु	35	कीर्तिधर
16	विश्वावसु	36	लोल्लट
17	रम्भा	37	उद्भव
18	अर्जुन	38	शङ्कुक
19	नारद	39	स्वातिर्गण
20	तुम्बुरु		

इसके बाद संगीत की परिभाषा 'गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते' देकर संगीत के दो भेद 'मार्गी' और 'देशी' कहे गए हैं। संगीत का गुणगान करते हुए कहा गया है कि देव, दानव, यक्ष, किन्नर, गांधर्व तथा मानव ही नहीं अपितु विषधर साँप भी संगीत के वश में आ जाता है। संगीत के प्रभाव से रोता हुआ बालक हँसने लगता है और मृग भी अपने प्राणों को बहेलिए को सौंप देता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति में संगीत एकमात्र साधन कहा गया है। प्रथम प्रकरण के अन्तिम अट्ठारह श्लोकों में संगीत रत्नाकर के सातों अध्यायों की विषय–सूची दी गई है।

पिण्डोत्पत्ति – संगीत नाद पर आधारित है। नाद बिना शरीर सम्भव नहीं। अतः इस ग्रन्थ में 'पिण्ड' यानि शरीर की उत्पत्ति का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस प्रकरण को देखने से सिद्ध होता है कि आचार्य शारंगदेव आयुर्वेद के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। आत्मा–परमात्मा का सम्बन्ध, आत्मा का शरीर में विलय और नौ–मास में कब किन–किन अंगों का विकास होता है, कौन से गुण बच्चे को माँ से मिलते हैं तथा कौन से गुण पिता से, शरीर में कितनी हड्डियाँ हैं, कितनी नसें हैं और कौन सी नस कहाँ से कहाँ तक जाती हैं आदि–आदि का पूर्ण विवरण दिया गया है। यहाँ पर ग्रन्थ में वर्णित शरीरस्थ–चक्रों का उल्लेख करना उपयुक्त होगा। शरीर में कुल दस चक्र होते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं:–

नाम	**स्थान**	**दल**
आधार चक्र	गुदा व लिंग के मध्य स्थित	चार दलों वाला
स्वाधिष्ठान चक्र	लिंग के मूल में स्थित	छह दलों वाला
मणिपूरक चक्र	नाभि में स्थित	दस दलों वाला
अनाहत चक्र	हृद्य में स्थित	बारह दलों वाला
विशुद्धि चक्र	कण्ठ में स्थित	सोलह दलों वाला
ललना चक्र	गले व कण्ठ के मध्य स्थित(घाटी में)	बारह दलों वाला
आज्ञा चक्र	भृकुटि में स्थित	तीन दलों वाला
मन चक्र	भृकुटि में स्थित	छह दलों वाला
सोम चक्र	भृकुटि में स्थित	सोलह दलों वाला
सुधा चक्र	मस्तिष्क (ब्रहम–रन्ध्र)	सहस्र दलों वाला

अलग अलग चक्रों में दलों की संख्या भिन्न–भिन्न बताई गई हैं। जैसे किस चक्र का कौन सा दल यदि विकसित होगा तो व्यक्ति संगीत में विकास करेगा और यदि अमुक चक्र का अमुक दल विकसित नहीं होगा तो वह संगीत के क्षेत्र में विकास नहीं कर सकेगा। उदाहरणार्थ – हृद्य में स्थित अनाहत चक्र के बारह दल हैं। जिसके पहले, आठवें, ग्यारहवें और बारहवें दल पर; विशुद्धि चक्र के

सोलह दलों में से आठवें से पन्द्रहवें दल पर और ललना चक्र के बारह दलों में से दसवें और ग्यारहवें दल पर जीभ स्थित होता है तो संगीत में सिद्धि प्राप्त होती है। ठीक इसके विपरीत अनाहत चक्र के चौथे, छठे और दसवें दल पर; विशुद्धि चक्र के सोलहवें दल पर और ललना चक्र के पहले, चौथे और पाँचवे पर जीभ स्थित होता है तब संगीत का विकास होने में कठिनाई का सामना होता है, और कभी–कभी विकास की सम्भावना बिल्कुल नहीं के बराबर होती है। निम्नलिखित श्लोक इस कथन को प्रमाणित करते हैं:–

अनाहतदले पूर्वेष्टमे चैकादशे तथा।
द्वादशे च स्थितो जीवो गीतादेः सिद्धिमृच्छति।।
चतुर्थषष्टदशमैर्दलैर्गीतादि नश्यति।
विशुद्धेरष्टमादीनि दलान्यष्टौ श्रितानि तु।।
दद्युर्गीतादिसंसिद्धिं षोड्शं तद्विनाशकम्।
दशमैकादशे पत्रे ललनायाँ तु सिद्धिदे।।
नाशकं प्रथमं तुर्य पंचम च दलं विदुः।

नाद स्थान, श्रुति, स्वर आदि – संगीत–रत्नाकर जैसे ग्रन्थ में अब तक 'स्वराध्याय' में वर्णित शरीर चक्रों के विषय में, उनके नाम व गुण एवं स्थान का सामान्य बोध कराने के उद्देश्य से वर्णन किया गया है। अब इसी अध्याय के अन्य विषयों पर यदि दृष्टिपात करें तो विदित होता है कि नाद, स्थान, श्रुति, स्वर–जाति, कुल देवता, ऋषि, द्वीप, छन्द और रस आदि प्रकरण इस अध्याय के प्रमुख विषय हैं।

नाद की व्यापकता – सम्पूर्ण विश्व नाद पर ही आधारित है, जैसे आत्मा जब बोलने की इच्छा व्यक्त करती है तब वह शरीर में स्थित अग्नि को प्रेरित करती है, अग्नि ब्रहम–ग्रन्थि में स्थित वायु को प्रेरित करती है, अग्नि और वायु के संयोग से नाद उत्पन्न होता है जो नाभि, हद्य, कण्ठ, मूर्धा और मुख से होता हुआ स्वर और शब्द के रुप में प्रकट होता है। नाद के पाँच प्रकार हैं – 1. अति सूक्ष्म, 2. सूक्ष्म, 3.पुष्ट, 4. अपुष्ट, 5. कृत्रिम।

स्थान – व्यवहार में हृद्य से मन्द्र, कण्ठ से मध्य और मूर्धा से तार स्थान (सप्तक) के स्वर माने जाते हैं।

श्रुति – श्रुतियाँ बाईस होती हैं। हमारे शरीर में बाईस–बाईस नाड़ियाँ जो हद्य, कण्ठ और मूर्धा में होती हैं, उनसे वायु टकराती हुई बाईस श्रुतियों को उत्पन्न करती है। सारणा–चतुष्टयी द्वारा श्रुतियों को नवीन विधि से संगीत–रत्नाकर में समझाया गया है। भरत–मुनि, मतंग–मुनि आदि ने चल व अचल दोनों वीणाओं में सात–सात तार लगाए थे पर शारंगदेव ने बाईस–बाईस तार लगाकर सारणा–चतुष्टयी–विधि सम्पन्न की है। भरतादि ने षड्ज–मध्यम संवाद के लिए नौ श्रुति और षड्ज–पंचम संवाद के लिए तेरह श्रुतियों के अन्तर का विधान किया है। वहीं शारंगदेव ने आठ व बारह श्रुतियों का अन्तर माना है, अर्थात् शारंगदेव के अनुसार जिन स्वरों पर संवादी–स्वर स्थित है उनको छोड़कर दोनों के मध्य की श्रुतियों की गणना करनी है। जैसे षड्ज चार पर है तथा तेरहवीं श्रुति पर मध्यम है। चार से तेरह के मध्य आठ श्रुतियाँ हैं इसी प्रकार सा–प संवाद में षड्ज चार पर, पंचम सत्रह श्रुति पर है अतः षड्ज और पंचम के मध्य पाँच से सोलह तक बारह श्रुतियाँ ही हैं। भरतादि सत्रहवीं श्रुति को भी गिनते हैं इसलिए षड्ज–पंचम संवाद में भरतादि को तेरह श्रुतियों का अन्तर मानना पड़ा।

स्वर – षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद आदि सात स्वर हैं जिनको व्यवहार में सा, रे, ग, म, प, ध, नि संज्ञाएँ दी गई हैं। स्वर की परिभाषा देते हुए शारंगदेव का कथन है कि– 'श्रुत्यनन्तर भावी, स्निग्ध, श्रोताओं के चित का स्वयं रंजन करने वाला नाद, स्वर कहलाता है।' चौथी, सातवीं, नौवीं, तेरहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं, और बाइसवीं श्रुतियों पर सा, रे, ग..... आदि शुद्ध स्वर स्थापित (स्थित) हैं। बारह विकृत स्वरों का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार हैः–

1. तीसरी श्रुति पर च्युत्–षड्ज।
2. चौथी श्रुति पर अच्युत्–षड्ज।
3. सातवीं श्रुति पर विकृत–ऋषभ।
4. दसवीं श्रुति पर साधारण–गांधार।
5. ग्यारहवीं श्रुति पर अन्तर–गांधार।
6. बारहवीं श्रुति पर च्युत्–मध्यम।
7. तेरहवीं श्रुति पर अच्युत्–मध्यम।
8. सोलहवीं श्रुति पर मध्यमग्रामिक–पंचम।
9. सोलहवीं श्रुति पर ही च्युत्–मध्यम के प्रयोग के समय कैशिक–पंचम
10. बीसवीं श्रुति पर विकृत–धैवत (मध्यम–ग्राम में)।
11. प्रथम श्रुति पर कैशिक–निषाद।
12. दूसरी श्रुति पर काकली–निषाद।

श्रुतियाँ	**शुद्ध–स्वर**	**विकृति–स्वर**
1		कैशिक–नि
2		काकली–नि
3		च्युत–सा
4	सा	अच्युत–सा
5		
6		
7	रे	विकृत–रे
8		
9	ग	
10		साधारण ग
11		अन्तर–ग
12		च्युत–म
13	म	अच्युत–म
14		
15		
16		मध्यमग्रामिक–प, कैशिक–प
17	प	
18		
19		
20	ध	विकृत–ध
21		
22	नि	

श्रुतियों के तीव्रा, कुमुद्वती आदि नाम दिए गए हैं और श्रुतियों को पाँच जातियों में विभक्त किया गया है। श्रुतियों की जातियों के नाम इस प्रकार हैं – दीप्ता, आयता, मध्या, करुणा और मृदु। वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी की परिभाषा देकर इनकी तुलना क्रमशः राजा, मन्त्री, सेवक और शत्रु से की गई है। सा, रे, ग आदि सातों स्वरों के रंग, रस, छन्द, द्वीप और देवता भी बताए गए हैं। स्वरों का सम्बन्ध मोर, चातक आदि पशु–पक्षियों से जोड़ा गया है। स्वरों की जातियाँ, वंश आदि भी दिए गए हैं।

सारिणी

स्वर	**पशुपक्षी**	**कुल**	**वर्ण**	**रंग**	**द्वीप**	**ऋषि**	**देवता**	**छन्द**	**रस**
षड्ज	मोर	देव	ब्राहमण	रक्त	जम्बू	अग्नि	अग्नि	अनुष्टुप	वीर,अद्भुत
ऋषभ	चातक	ऋषि	श्रत्रिय	पिंजर	शाक	ब्रहमा	ब्रहमा	गायत्री	रौद्र
गांधार	बकरा	देव	वैश्य	स्वर्ण	कुश	चन्द्रमा	सरस्वती	त्रिष्टुप	करुण
मध्यम	क्रौंच	देव	ब्राहमण	श्वेत	क्रौंच	विष्णु	महादेव	वृहती	हास्य
पंचम	कोयल	पितृ	ब्राहमण	श्याम	शाल्मली	नारद	विष्णु	पंक्ति	श्रृंगार
धैवत	मेंढक	ऋषि	क्षत्रिय	पीत	श्वेत	तुम्बरु	गणेश	उष्णिक्	वीभत्स व भयानक
निषाद	हाथी	असुर	वैश्य	मिश्रित	पुष्कर	तुम्बरु	सूर्य	जगती	करुण

ग्राम–मूर्च्छना – ग्राम की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि–

'ग्रामः स्वरसमूहः स्यानमूर्च्छनोदेः समाश्रयः।'

अर्थात्, स्वरों का वह समूह जो मूर्च्छनाओं का आश्रय है ग्राम कहलाता है। पृथ्वी पर दो ही ग्राम – 'षड्ज–ग्राम' व 'मध्यम–ग्राम' कहे गए हैं।

सातों स्वरों में षड्ज–स्वर का स्थान प्रथम है और उसके दो संवादी मध्यम और पंचम होने के कारण षड्ज–ग्राम मुख्य हैं। मध्यम स्वर अविलोपी है यानी किसी जाति या मूर्च्छना–तान में इसका लोप नहीं किया जा सकता, इसलिए दूसरे ग्राम को मध्यम–ग्राम की संज्ञा दी गई है। गांधार–ग्राम भी माना गया है पर वह पृथ्वी पर नहीं है। शारंगदेव ने संगीत–रत्नाकर में नारद के मत से गांधार–ग्राम का भी वर्णन किया है। तीनों ग्रामों की 21 मूर्च्छनाएँ हैं। उनके नाम उत्तरमन्द्रा, रजनी आदि दिए गए हैं। दोनों षड्ज और मध्यम ग्रामों की चौदह मूर्च्छनाओं के विकृत स्वरों के प्रयोग से चार–चार भेद किए गए हैं जिसमें भेद बनते हैं। उसके बाद स्वर–प्रस्तार, खण्ड मेरु विधि का उल्लेख किया गया है जिससे प्रत्येक मूर्च्छना के 5040 स्वर प्रस्तार बनते हैं। 5040 को 56 से गुणा करने पर 282240 कूट–तान कही गई हैं। इतना ही नहीं इनके साथ छह, पाँच, चार, तीन, दो और एक स्वर के कुल 317930 भेद बताए गए हैं।

खण्ड–मेरु – इस विधि में बताया गया है कि निश्चित स्वरों के अधिकतम कितने प्रस्तार हो सकते हैं, जिनमें न तो कोई पुनरोक्ति होगी और न ही कोई स्वर प्रस्तार छूटेगा। खण्ड–मेरु–विधि द्वारा किस प्रस्तार की कौन सी संख्या है या किस संख्या का कौन सा प्रस्तार होगा, इसे निकालने की विधि को 'नष्टोदिष्ट–विधि' कहते हैं। इस स्वर–प्रस्तार को देखने से शारंगदेव का गणित जैसे विषय पर कितना

नियन्त्रण है यह भी ज्ञात होता है। संगीत–रत्नाकर में षाडव और औडव की चौरासी तानें दी गई हैं, जो यज्ञ के उपयोग की हैं।

साधारण–प्रकरण – इसमें स्वर–साधारण और जाति–साधारण बताई गई है। साधारण का अर्थ है – 'विकृत'। तीसरे प्रकरण में तो विकृत–स्वर बारह बताए गए हैं। फिर भी इस संक्षिप्त प्रकरण में स्वर के साथ–साथ जाति–साधारण भी बताई गई हैं।

वर्ण–अलंकार प्रकरण – इस प्रकरण में वर्ण की परिभाषा, उसके चार प्रकार स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी बताकर कुल तिरसठ अलंकार कहे गए हैं। आज भी विद्यार्थियों को संगीत का ज्ञान कराते समय अलंकारों का अभ्यास (शिक्षण) कराया जाता है। शारंगदेव ने इन अलंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है। अलंकार तो लगभग वर्तमान वाले ही हैं, पर आज हम इन अलंकारों को वर्णों के भेद से नहीं पहचानते कि कौन सा अलंकार स्थायी–वर्ण या आरोही–वर्ण का है अथवा किसी अन्य वर्ण का है।

जाति–प्रकरण – वर्तमान रागों की जननी जातियाँ थी। इस प्रकरण में 18 जातियों का विस्तृत वर्णन है जिनमें सात शुद्ध और ग्यारह संसर्गजा यानी दो या दो से अधिक जातियों के मिश्रण से मिलकर बनी हुई जातियों का वर्णन है। शुद्ध जातियों में – षड्ज से षाड्जी, ऋषभ से आर्षभी आदि सातों स्वरों के नाम वाली जातियाँ थी। षड्ज–मध्यम, गांधार–पंचमी आदि दो–दो जातियों के मिश्रण से बनी थीं, ऐसी तीन या चार जातियों से भी मिलकर बनी जातियाँ दी गई हैं। 18 जातियों में से सात षड्ज–ग्राम की और ग्यारह मध्यम–ग्राम की जातियां थीं।

गीति –प्रकरण – शुद्ध जातियों से उत्पन्न सात कपाल दिए गए हैं। उसके बाद कम्बल दिए गए हैं। अन्त में मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला–गीतियाँ दी गई हैं। अधिक दीर्घ अक्षर वाली सम्भाविता और अधिक लघु–अक्षर वाली पृथुला–गीति कही गई है। 'भक्त्या देवं रुद्रं वन्दे' यह सम्भाविता गीति है। 'सुरनत हर पद युगलं प्रणमत्' यह पृथुला–गीति हुई। उदाहरण से स्पष्ट हैः–

सम्भाविताः–

ध म म रे ग रे ग सा सा नि ध सा नि ध नि म म
भ क्त्या दे वं द्रं व न्दे

पृथुलाः–

म ग रे ग सा धनि ध ध ध सा ध नि प निधप म म
सु र न त ह र प द यु ग लं प्र ण म त

1.4.2 राग विवेकाध्याय – इस अध्याय में दो सौ चौसठ रागों का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम पाँच प्रकार के ग्राम–राग हैं जो गीतियों पर आधारित हैं। इन गीतियों के नाम इस प्रकार हैः– शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, बेसरा और साधारणी।

ग्राम–राग और देशी–राग – ग्राम–राग और देशी–राग में ग्राम–राग के अन्तर्गत 30 ग्राम–राग, 8 उपराग, 20 राग, 96 भाषा, 20 विभाषा और 4 अन्तरभाषा हैं। भाषा, विभाषा और अन्तरंभाषा इनको पन्द्रह जनक भाषाओं में वर्गीकृत किया गया है। दूसरे प्रकरण में रागाम्, भाषाम्, क्रियाम् और उपांग कहे

गए हैं। इसके भी पूर्व प्रसिद्ध और अधुना प्रसिद्ध ये दो वर्ग बनाए गए हैं जिनका विवरण इस प्रकार है। पूर्व प्रसिद्ध रागों में 8 रागाम्, 11 भाषाम्, 12 क्रियाम् और 3 उपांग रागों का नाम दिया गया है। जिनका कुल योग 34 है। अधुनाप्रसिद्ध रागों में 13 रागाम्, 9 भाषाम्, 27 क्रियाम् और 3 उपांग रागों का उल्लेख है जिनकी कुल संख्या 52 है। आगे सारिणी में सभी दस वर्गों के रागों का विवरण दिया जा रहा है:–

राग	संख्या			
ग्रामराग	30			
उपराग	8			
राग	20			
भाषा	96			
विभाषा	20			
अन्तरभाषा	4	– योग	178	
रागाम्	पूर्व प्रसिद्ध	8		
	अधुना प्रसिद्ध	13	21	
भाषाम्	पूर्व प्रसिद्ध	11		
	अधुना प्रसिद्ध	9	20	
क्रियाम्	पूर्व प्रसिद्ध	12		
	अधुना प्रसिद्ध	27	39	
उपांग	पूर्व प्रसिद्ध	3		
	अधुना प्रसिद्ध	3	6	– योग 86

कुल राग (178+86) = 264

यही रागों के दस वर्ग हैं। जिन्हें हम आज दशविध रागवर्गीकरण के नाम से जानते हैं। शारंगदेव ने संगीत–रत्नाकर में लगभग आधे रागों को स्वर–विस्तार, कुछ रागों की तालबद्ध आक्षिप्तिका और करण आदि का भी उल्लेख किया है।

इसमें ग्रामराग और उपराग के पश्चात् राग शीर्षक के अन्तर्गत बीस राग कहे गए हैं जिनमें श्री, भैरव, मेघ आदि राग वर्तमान में भी उपलब्ध हैं। पन्द्रह भाषा जनक रागों में हिन्दोल और भिन्न–षड्ज हैं जो आज भी प्रचार में हैं। अधुना–प्रसिद्ध रागों में बिलावल, कामोद, छायानट, भैरवी, मल्हार आदि देखे जा सकते हैं।

1.4.3 प्रकीर्णकाध्याय – इस अध्याय में उन पारिभाषिक शब्दों को रखा गया है जो किसी अन्य अध्याय में नहीं वर्णित किए जा सकते थे। जैसे गायक के गुण–दोष, शब्द के गुण–दोष, गमक के पन्द्रह प्रकार, स्थाय भेद, आलप्ति, वृन्दगान आदि ग्यारह पारिभाषिक शब्दों को इस अध्याय में दिया गया है।

आवाज़ के गुण–दोष – संगीत–रत्नाकर में आवाज के गुण–दोष को आयुर्वेद के धातुओं से समझाया गया है कि वात, पित्त, कफ़ और सन्निपात इन चार धातुओं के सन्तुलन से शरीर स्वस्थ रहता है। इनके असन्तुलन से ही रोग पैदा होते हैं। कफ़ प्रधान व्यक्ति की आवाज सुरीली, मधुर व सुकुमार कही गई है। पित्त प्रधान वालों की आवाज गम्भीर तथा तीनों सप्तकों में सहजता से जाने वाली, एवं वात् प्रधान वालों की आवाज ऊँचे स्वर वाली, खोखली, कठोर व मोटी बताई गई है। वैज्ञानिक आवाज के गुण–दोष के कारणों पर आज भी शोध कर रहे हैं। आवाज मधुर और कटु होने के कारणों पर यदि शारंगदेव के शब्द–भेद से मिलान करके समझा जाए तो सम्भव है कि किसी अनुकूल परिणाम पर पहुँचा

जा सके। स्थाय–भेद वाला बिन्दु भी आज चर्चा से बाहर है। स्थाय का अर्थ है भाग अथवा अवयव। राग या बन्दिश के अलग–अलग भाग करके देखने को 'स्थाय' कहा जाता है। संगीत–रत्नाकर में अनेक प्रकार के स्थायों का वर्णन है। 96 स्थाय तो दिए गए ही हैं साथ ही प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध स्थायों के दो वर्ग पुनः बताए गए हैं। यद्यपि आजकल इस विषय में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है।

वृन्दगान – वृन्दगान पर भी संगीत–रत्नाकर के निर्देशों का लाभ लिया जा सकता है। वर्तमान में वृन्दगान और वृन्दवादन का प्रचार बढ़ रहा है। वृन्दगान में हम पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण कर रहे हैं। संगीत–रत्नाकर में वृन्दगान (समूह–गान) पर विचार प्रस्तुत किए गए हैं। यदि हम इनका लाभ उठाकर नवीनता के साथ प्राचीनता का समन्वय कर दे तो सम्भव है कि एक आकर्षक उपलब्धि प्राप्त हो।

1.4.4 प्रबन्धाध्याय – संगीत–रत्नाकर के इस अध्याय में प्रबन्ध का वर्णन है। प्रबन्ध यानी बन्दिश, जिसे वस्तु या रुपक भी कहा गया है। किसी भी बन्दिश के गेय भाग को धातु और पद (गीत) भाग को अंग कहा गया है। छह अंगों से लेकर दो अंगों वाले प्रबन्ध की पाँच–मेदिनी, आनन्दिनी, दीपनी, भावनी और तारावली जातियाँ दी गई हैं। दो धातु वाले, तीन धातु वाले या चार धातु वाले प्रबन्धों के तीन भेद दिए गए हैं। शारंगदेव ने प्रबन्धों के तीन वर्ग बनाए हैंः– सूड, आलिक्रम, विप्रकीर्ण।।

आलिक्रम के प्रबन्ध में चौबीस प्रकार कहे गए हैं साथ ही सूड के आठ प्रकारों को मिलाकर बत्तीस संख्या भी दी गई है।

आलिक्रम के कुछ नाम इस प्रकार हैं – वर्ण, वर्ण–स्वर, गद्य, कैवाड, तुरग लीला, गज लीला, स्वरार्थ प्रबन्ध। आज भी वैचित्रय के लिए स्वरार्थ प्रबन्ध गाया जाता है। इसमें सात स्वरों के अक्षरों के मात्राओं को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करके अर्थपूर्ण गीत बनाकर गाया जाता है। जैसे–

'गगरी सिर पर धरी'

इसमें ग, ग, रे, सा, रे, प, रे, ध, रे स्वरों को गाना होगा अर्थात् स्वरलिपि में इसी प्रकार लिखा जाएगा।

छत्तीस प्रकार के विप्रकीर्ण–प्रबन्धों का उल्लेख संगीत–रत्नाकर में है। सात सालग–प्रबन्ध भी चतुर्थ वर्ग में दिए गए हैं। मोटे तौर पर अक्षर–भेद से, मात्रा भेद से, धातु भेद से, किस पंक्ति को दो बार गाना है, किसे एक बार गाना है, किन दो भागों का स्वरांश एक सा होगा इत्यादि अनेक प्रकार के भेद से प्रबन्धों के हजारों प्रबन्ध बताए गए हैं। वर्तमान संगीत में प्रबन्धों के प्रकारों की ओर सबसे कम ध्यान दिया जाता है। प्राचीन संगीत के प्रबन्धों में कितनी छोटी–छोटी बातों के भेद से अन्तर आ जाता था, आज हम उसकी ओर सोच ही नहीं पाते हैं। प्रबन्धों से ही आगे चलकर ध्रुपद–शैली का विकास हुआ।

1.4.5 तालाध्याय – इस अध्याय के मार्गताल और देशीताल ये दो भाग किए गए हैं। मार्गताल पाँच कहे गए हैं– 1. चच्चत्पुट, 2. चाचपुट 3. षटपितापुत्रक, (इसके दो और भी नाम हैं– पंचपाणि और उत्तर), 4. उद्धट्ट और 5.सम्पक्वेष्टाक। इनके एककल, द्विकल और चतुष्कल का सम्बन्ध क्रमशः चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्ग से जोड़ा गया है। चौदह गीतकों का विस्तृत वर्णन दिया गया है। जिन के नाम इस प्रकार है।

गीतक		शुद्ध गीत प्रकरण	
1.मद्रक	2. अपरान्तक	1.छन्दक	2. आसारित
3.उल्लोप्यक	4.प्रकरी	3.वर्धमान	4.पाणिक
5.औवेणक	6. रोविन्दक	5. ऋक्	6. गाथा
7.उत्तर(शुद्धगीत के चौदह भेदों का सामान्य नाम भी गीतक है)		7. साम (पूर्वलिखित सात भेद तथा प्रस्तुत चौदह भेदों का सामान्य नाम भी प्रकरण है)	

ये चौदह शुद्धगीतक गांधर्व के अन्तर्गत कहे गए हैं। संगीत–राज में इन्हें 'गीतरत्नकोश' के प्रबन्धोल्लास के अन्तर्गत स्वतन्त्र रुप से 'गीतक परीक्षण' में रखा गया है। कुम्भा के अनुसार यद्यपि इन गीतकों में ताल प्रमुख है तथापि स्वर–ताल पद से बँधे होने के कारण इन्हें प्रबन्धोल्लास में अलग गीतक–परीक्षण में रखा है। जबकि शारंगदेव ने तालाध्याय में मार्गतालों के अन्तर्गत गीतकों को स्थान दिया है। तालाध्याय का लगभग आधा भाग गीतकों के वर्णन को दिया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि गीतकों को तालाध्याय में क्यों रखा गया है? इसका उत्तर यह है कि गाने से अधिक ताल का विधान इन गीतकों में है अतः इन्हें तालाध्याय में ही रखना पड़ा। तालाध्याय के दूसरे भाग में देशी–तालों का वर्णन है। इसमें शारंगदेव ने एक सौ बीस तालों का मात्रा और विभाग सहित विधान किया है। तालों के कम से कम द्रुत और अधिक से अधिक प्लुत (तीन मात्रा) के विभाग हैं। अन्तिम दो तालें शारंगदेव ने अपने नाम से दी हैं। एक सौ उन्नीस क्रम पर 'निःशंक' नाम की ताल है और एक सौ बीस क्रम पर 'शारंगदेव' नामक ताल है। यह दोनों ही तालें पन्द्रह–ग्यारह मात्राओं की हैं। यहाँ दोनों तालों को विभाग सहित दिया जा रहा है।

निःशक – लघु गुरु प्लुत गुरु गुरु लघु
| ` ` ` ` ` |

शारंगदेव ताल – द्रुत द्रुत गुरु प्लुत गुरु गुरु लघु
0 0 ` ` ` ` |

इन एक–सौ–बीस तालों के अतिरिक्त भी अनेक तालें प्रचार में हो सकती हैं पर उनका वर्णन न करके ताल के प्रस्तार दिए हैं जिनके माध्यम से अधिकतम तालों का निर्माण किया जा सकता है। प्रस्तार का अर्थ है अधिकतम फैलाव यानी किसी अंग जैसे गुरु या प्लुत के कितने प्रस्तार बन सकते हैं इस पर शारंगदेव का चिन्तन शोध का विषय है। उदाहरण के लिए प्लुत के 19 प्रस्तार बनते हैं। इनमें कितने द्रुत से आरंभ होंगे, कुल कितने द्रुत, लघु या गुरु आएंगे, उनका क्रम क्या होगा, अमुक प्रस्तार की कौन सी संख्या होगी या अमुक संख्या का कौन सा प्रस्तार होगा इत्यादि। यह नष्ट और उद्दिष्ट विधि से जाना जाता है। कुल 19 प्रत्यय दिये गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं।

1. प्रस्तार, 2. संख्या, 3.नष्ट, 4. उद्दिष्ट, 5. पाताल, 6.द्रुतमेरु, 7. लघुमेरु, 8. गुरुमेरु, 9. प्लुतमेरु, 10. संयोगमेरु, 11. खण्डप्रस्तार।

तालाध्याय को यदि चार भागों में विभक्त करके देखें तो एक से लेकर बावन तक के श्लोकों में ताल के वर्तमान दस प्राण व पाँच मार्गताल कहे गए हैं। श्लोक संख्या 53 से 235 तक गीतक, 236 से 311 देशीतालें और 312 से 408 यानी अन्त तक ताल–प्रस्तार दिए गए हैं।

1.4.6 वाद्याध्याय – वाद्याध्याय के अन्तर्गत वाद्य के चार भेद बताए गए हैं–

1. तत–वाद्य 2. सुषिर–वाद्य 3. अवनद्य–वाद्य और 4. घनवाद्य।

तत–वाद्य :– इसके अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्य वर्णित हैं –

1. तत–वाद्य के समान्य लक्षण
2. श्रुति और स्वर के भेद से वीणाओं के दो प्रकार।
3. एक–तन्त्री वीणा के लक्षण।
4. नकुल आदि पाँच वीणाओं के लक्षण।
5. आलापिनी के लक्षण।
6. किन्नरी के तीन भेद–वृहदी, मध्यमा और लध्वी।
7. पिनाकी वीणा के लक्षण।
8. निःशंक वीणा के लक्षण।
9. वीणा वादक के गुण–दोष।

सुषिर–वाद्य – सुषिर के अन्तर्गत बाँसुरी के लक्षण एवं उसके भेद, बाँसुरी में स्वरों की उत्पत्ति, वीणा की तरह बाँसुरी में भी धातु का वर्णन एवं फूँक मारने के गुण व दोष आदि दिए गए हैं। अन्य सुषिर–वाद्यों के नाम व उनके लक्षण पाव, पाविका, मुरली, मधुकरी, काहला, तुण्डकिनी, चुक्का, श्रृंग और शरंग वर्णित है।

आनद्य या अवनद्य वाद्य – अवनद्य–वाद्य के अन्तर्गत पटवाद्य के मार्ग और देशी भेद से दो रुपों का वर्णन है। पट के वर्ण, मतान्तर से पाटों का भेद, नाग–बन्ध आदि के 35 हस्त पाटों का निरुपण, नन्दिकेश्वर द्वारा कहे गए पाटाक्षर, 21 हुडुक–वाद्य के पाट, मार्दलिक के गुण एवं दोष और मार्दलिक के भेद, घट, ढक, डमरु, दुन्दुभि, तुम्बकी, भेरी आदि का उल्लेख है। अवनद्य–वाद्यों में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी और चमड़े के गुण–दोष दिए गए हैं।

घनवाद्य – घनवाद्य के अन्तर्गत ताल के लक्षण देकर निम्न छह वाद्यों का वर्णन किया गया है– घण्टा, श्रुद्रघण्टा, जयघण्टा, काम्रा, शुक्ति, पट् बताए है तथा अन्त में घनवाद्य एवं वादक के गुण–दोष दिए गए हैं।

1.4.7 नृत्याध्याय – पण्डित शारंगदेव ने नृत्य का विशद विवेचन किया है। नृत्याध्याय के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं पर विचार किया गया है– नाट्य की उत्पत्ति, अभिनय के भेद, नृत्य एवं नृत का लक्षण, आडिक अभिनय के भेदों में : सिर के चौदह, हाथ के सरसठ, वक्ष के पाँच, पार्श्व के पाँच, कटि के पाँच एवं चरण के तेरह भेदों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार अन्य सभी अंगों के भी अलग–अलग मुद्राओं का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे– ग्रीवा के नौ, बाहु के बावन, दृष्टि के छत्तीस भेद आदि।

हमारा विषय नृत्य नहीं है। यहाँ मूल ग्रन्थ संगीत–रत्नाकर के नृत्याध्याय की विषय–सूची के आधार पर परिचय मात्र दिया गया है। आचार्य शारंगदेव ने संगीत–रत्नाकर नामक विशाल ग्रन्थ इतने विश्वास से लिखा है कि उसमें कहीं भी सन्देह नहीं है, इसलिए शारंगदेव अपने आपको निःशंक कहते हैं। उन्होनें संगीत सम्बन्धी ज्ञान ऐसा प्रस्तुत किया कि यह ग्रन्थ परवर्ती ग्रन्थकारों का आधार ग्रन्थ बन गया। आज भी संगीत सम्बन्धी ग्रन्थ बिना संगीत–रत्नाकर की सहायता के लिखा ही नहीं जा सकता। अभी तो रत्नाकर का ग्राम–मूर्च्छना वाला भाग समझा जाना शेष है इसीलिए संगीत–रत्नाकर के रागों को गाया नहीं जा सकता।

आचार्य बृहस्पति ने कुछ रागों को जातियों के लक्षणों के आधार पर तैयार करके आकाशवाणी से गवाया था। डॉ0 प्रेमलता शर्मा ने भी प्राचीन संगीत को समझने में समय लगाया और गीतकों को गवाया। हमें एक नवीन सूत्र समझ में आ रहा है कि संगीत–रत्नाकर में रागों के वर्णन में अनेक रागों की ऋतुएँ बताई गई हैं जिनमें से सब तो नहीं लेकिन वर्षा–ऋतु के राग तो हमारे विचार से आधुनिक मल्हार जैसे ही रहे होंगे। संगीत–रत्नाकर का 'षड्ज–ग्राम' और 'टक्क–राग' वर्षा–ऋतु के राग हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. रिक्त स्थान की पूर्तिः–

(क) पं0 शारंगदेव मूल रुप से ..... के निवासी थे।
(ख) संगीत रत्नाकर ग्रंथ में कुल ..... अध्याय हैं।
(ग) पं0 शारंगदेव ने अपने ग्रंथ में ..... विकृत स्वरों का उल्लेख किया है।
(घ) संगीत रत्नाकर में कुल ..... रागों का वर्णन प्राप्त होता है।

2. सत्य/असत्य बताइयेः–

(क) संगीत रत्नाकर में घनवाद्य के अन्तर्गत जय घण्टा का उल्लेख मिलता है।
(ख) तालाध्याय में मार्गताल एवं ब्रह्म ताल ये दो भाग प्राप्त होते हैं।
(ग) पं0 शारंगदेव ने प्रबंधाध्याय में सूड प्रबंध का उल्लेख किया है।
(घ) पं0 शारंगदेव ने भरत के समान स्वरों को उनकी प्रथम श्रुति पर रखा है।

3. लघु उत्तरीय प्रश्नः

(क) संगीत रत्नाकर में उल्लिखित आवाज़ के गुण–दोष के विषय में संक्षेप में बताइये।
(ख) संगीत रत्नाकर में सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत कौन–से वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है?
(ग) पं0 शारंगदेव के विकृत स्वरों के नाम बताइये।

4. बहुविकल्पीय प्रश्नः

(क) निम्नलिखित विकल्पों में कौन–सा विकल्प संगीत रत्नाकर के अध्याय में प्रयुक्त नहीं होता है।
(1) नृत्याध्याय (2) प्रबन्धाध्याय (3) मार्ग अध्याय
(ख) संगीत रत्नाकर में विकृत स्वर के अन्तर्गत आता है।
(1) कैशिक निषाद (2) गन्धार (3) धैवत
(ग) पं0 शारंगदेव ने जाति गायन के अन्तर्गत कितनी जातियों का विस्तृत वर्णन किया है।
(1) 17 (2) 18 (3) 19

1.5 सारांश

संगीत रत्नाकर ग्रंथ उत्तरी एवं दक्षिणी संगीत दोनों के लिए महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। गायन, वादन, नृत्य इन तीनों कलाओं का पूर्ण विवरण इस ग्रंथ में मिलता है। संगीत रत्नाकर में अधिकतर भरत के नाट्यशास्त्र की विषय सामग्री को अपनाया है। सात अध्यायों से परिपूर्ण यह महत्वपूर्ण सांगीतिक ग्रंथ है। पं0 शारंगदेव संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। वह संगीत के क्रियात्मक पक्ष में ही उत्तम नहीं थे, बल्कि संगीत के सैद्धांतिक पक्षों का भी विशेष ज्ञान रखते थे। वास्तव में संगीत

रत्नाकर ग्रंथ हमारी विशाल संगीत धरोहर है जिस पर विस्तार से शोध की आवश्यकता है जिससे इसके अनेक अज्ञात संगीत के रहस्यों का पता चलेगा जो भावी संगीतज्ञों एवं विद्यार्थियों के हित में विशेष रुप से सहायता देगा।

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. रिक्त स्थान की पूर्तिः–

(क) पं0 शारंगदेव मूल रुप से **....कश्मीर....** के निवासी थे।
(ख) संगीत रत्नाकर ग्रंथ में कुल **...सात.....** अध्याय हैं ।
(ग) पं0 शारंगदेव ने अपने ग्रंथ में **....12.....** विकृत स्वरों का उल्लेख किया है।
(घ) संगीत रत्नाकर में कुल **...264.....** रागों का वर्णन प्राप्त होता है।

2. सत्य/असत्य बताइयेः–

(क) संगीत रत्नाकर में घनवाद्य के अन्तर्गत जय घण्टा का उल्लेख मिलता है। **(सत्य)**
(ख) तालाध्याय में मार्गताल एवं ब्रह्म ताल ये दो भाग प्राप्त होते हैं। **(असत्य)**
(ग) पं0 शारंगदेव ने प्रबन्धाध्याय में सूड प्रबंध का उल्लेख किया है। **(सत्य)**
(घ) पं0 शारंगदेव ने भरत के समान स्वरों को उनकी प्रथम श्रुति पर रखा है। **(असत्य)**

3. बहुविकल्पीय प्रश्नः–

(क) उत्तरः मार्ग अध्याय
(ख) उत्तरः कैशिक निषाद
(ग) उत्तरः 18

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजन, डा0 रेणु, (2010), *भारतीय शास्त्रीय संगीत के विविध आयाम*, अंकित पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
2. सर्राफ, डॉ0 रमा, (2004), *भारतीय संगीत सरिता*, कनिष्का पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
3. परांजपे, डॉ0 शरच्चन्द्र श्रीधर, (1972), *संगीत बोध*, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।

1.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भातखंडे, पं0 विष्णु नारायण, *संगीत पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन*, संगीत कार्यालय, हाथरस।
2. चौधरी, डा0 सुभद्रा, *संगीत संचयन*, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, राजस्थान।

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) पं0 शारंगदेव का संगीत के क्षेत्र में क्या योगदान है? विस्तार से समझाइये।
(ख) संगीत रत्नाकर के 'स्वराध्याय' पर विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

इकाई 2 – रामायण एवं महाभारत काल में संगीत

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 रामायण एवं महाभारत काल में संगीत का स्वरुप
2.4 रामायण काल में संगीत की स्थिति
2.5 महाभारत काल में संगीत की स्थिति
2.6 सारांश
2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई प्रदर्शन कला–संगीत में स्नातकोत्तर चतुर्थ सेमेस्टर (एम0पी0ए0एम0–605) पाठ्यक्रम की द्वितीय इकाई है। इससे पूर्व की इकाई में आपने शारंगदेव लिखित संगीत रत्नाकर के सप्ताध्यायों के बारे में जाना।

इस इकाई में रामायण एवं महाभारत काल में संगीत की स्थिति का वर्णन किया गया है। रामायण एवं महाभारत काल के अध्ययन से संगीत संबंधी ऐसे कितने ही सूत्र प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा उस युग में संगीत, उसके प्रयोग एवं जनमानस में उसके प्रति रुचि पर प्रकाश पड़ता है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप रामायण एवं महाभारत जैसे प्राचीन सांस्कृतिक महाकाव्य में उपलब्ध सांगीतिक सामग्री को समझा सकेंगे तथा प्राचीन भारत की सांस्कृतिक एवं सांगीतिक स्थिति का मानचित्र प्रस्तुत कर सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :–

- बता सकेंगे कि रामायण एवं महाभारत युग में प्रचलित गीत, वाद्य और नृत्य की विभिन्न शैलियाँ एवं उनका प्रयोग किस रुप में था।
- समझा सकेंगे कि वर्तमान में जिस रुप में भारतीय संगीत व्याप्त है उसकी प्राचीन स्थिति से वह किस रुप में सम्बन्धित है।
- बता सकेंगे कि रामायण एवं महाभारत काल में संगीत विषयक समुन्नति तथा प्रसार के सर्वत्र दर्शन होते हैं तथा इन महाकाव्यों में इसके सबल प्रमाण उपलब्ध हैं।
- बता सकेंगे कि इन कालों में संगीत कला का अत्यधिक प्रचार था तथा वैदिक एवं लौकिक दोनों संगीत प्रणालियों का समान रुप से उस समय प्रचलन था।

2.3 रामायण एवं महाभारत काल में संगीत का स्वरुप

पुराणों के उपरांत हमें महाकाव्य काल मिलता है। इस काल के प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण और महाभारत हैं। ईसा से लगभग 400 वर्ष पूर्व वाल्मिकी ऋषि ने रामायण महाकाव्य लिखा। रामायण एवं महाभारत काल में हमें जितने उत्कृष्ट एवं सुरम्य संगीत की मनोरम झांकी मिलती है, उतनी इससे पूर्व के कालों में नहीं मिलती। इन कालों में जब राजा ही संगीत मर्मज्ञ थे तो फिर प्रजा संगीत प्रिय क्यों न होती? इन दोनों कालों में संगीत की तीनों विधाओं गायन, वादन एवं नृत्य की बहुत उन्नति हुई। रामायणकाल एव महाभारतकाल काल में नित्य के सामाजिक जीवन में संगीत का प्रमुख स्थान था। सब प्रकार के उत्सवों में नृत्य, गीत इत्यादि का व्यवहार होता था। महान व्यक्ति, राजा लोग, मंगलगान वादन इत्यादि से जगाए जाते थे।

2.4 रामायण काल में संगीत की स्थिति

रामायण जैसे उत्तम एवं उच्चकोटि के महाकाव्य के रचयिता महर्षि बाल्मीकि थे जो राम के समकालीन माने जाते हैं। उनका गोत्र भृगु था। श्री राम के समय में ही उनका आश्रम गंगा के तट पर था। श्रीराम द्वारा निष्कासित करने के पश्चात् सीता जी आकर उन्हीं के आश्रम में रहीं और वहीं उनके पुत्र कुश और लव का जन्म हुआ। महर्षि बाल्मीकि ने रामायण की रचना करके

उसे कुश और लव को कंठस्थ कराया जिन्होंने इसका गान कर चारों ओर सुनाया और ख्याति प्राप्त की ।

ये महाकाव्य साहित्य के सभी रसों का आस्वादन कराता है। काव्य की दृष्टि से ये एक सर्वोच्च कोटि का काव्य माना जाता है। साहित्य जगत के साथ–साथ संगीत जगत में भी रामायण का स्थान विशेष है क्योंकि पाठ्य होने के साथ–साथ ये गेय भी है तथा छन्दोबद्ध भी। इसका प्रस्तुतिकरण पठन और गायन दोनों प्रकार से होने के कारण पूरे भारत में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में ये अपना एक विशेष स्थान बना चुका है। यह काव्य भक्ति, ज्ञान, राजनीति, आदर्शवाद का एक अनूठा उदाहरण है जो कि जन–जन तक पहुँच चुका है। अमीर–गरीब, बाल–वृद्ध, शिक्षित–अशिक्षित सभी वर्गों के लोग इसे समझ सकते हैं, और अपने जीवन में, दिनचर्या में इसका अनुभव कर सकते हैं। जीवन के हर पहलू, हर संदर्भ में यह काव्य किसी न किसी रुप में प्रकाश डालता है।

रामायण में लगभग 24000 श्लोक हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि द्वितीय से षष्ठ काण्ड तक पहले बने। प्रथम और सप्तम् काण्ड बाद में जोड़े गए। द्वितीय से षष्ठ कांड तक श्रीराम एक महावीर के रुप में चित्रित किये गए हैं। प्रथम और सप्तम काण्ड में श्रीराम को विष्णु के अवतार के रुप में उल्लिखित किया गया है। अतः ये दोनों संभवतः बाद में जोड़े गए हों इसी कारण किसी अन्य कवि की रचना भी हो सकती है। इसमें तत्कालीन समाज का पूरा चित्रण रामायण में मिलता है ।

भारतीय परम्परा के अनुसार रामायण का त्रेता युग में प्रणयन हुआ। इसके अनुसार रामायण का काल ईसा से सहस्त्रों वर्ष पूर्व का माना जाना चाहिये ।

यूरोपीय विद्वानों के अनुसार रामायण की रचना ईसा से लगभग 300–600 वर्ष पूर्व हो चुकी थी। जो कुछ बाद में लिखा गया या जोड़ा गया वह ई0 पूर्व 200 तक सम्पूर्ण हो चुका था, ऐसा माना जाता है।

रामायण में सांगीतिक विषयों का उल्लेख – रामायण स्वयं गेय तथा पाठ्य का सुन्दर निदर्शन है। राम के जन्म पर राजा दशरथ द्वारा बाजे वालों को बुलाकर बाजा बजाने का निर्देश देना, कुश और लव का तन्त्री द्वारा मधुर स्वर तथा लय में रामायण कथा गाकर सुनाना तथा जनता–जनार्दन को प्रसन्न करना, आत्म विभोर करना, रावण का सामगान के माध्यम से शिव की आराधना करना, वीणा वादन में सिद्धहस्त होना और पूजा अर्चना के बाद गान और नृत्य करना, ये सब तथ्य दर्शाते हैं कि संगीत उस समय जन–जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। रामायण में दिये गए उद्धरणों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि गीत, वाद्य, नृत्य का उस समय जन–जन में सर्वत्र प्रचार था। पाठ्य का अर्थ साधारण पाठ नहीं है, यह एक पारिभाषिक शब्द है। कुछ नियमों के साथ पाठ करने को ही पाठ्य कहते हैं। बालकाण्ड के चौथे सर्ग के नवें श्लोक में कहा गया है कि रामायण काव्य श्रृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर इत्यादि रसों से युक्त था।

'गान्धर्व शब्द का प्रयोग – संगीत शास्त्र तथा अभिजात संगीत के लिये 'गान्धर्व' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसके अंतर्गत गीत और वाद्य दोनों का अंतर्भाव था। बालकाण्ड में वर्णन आया है कि लव और कुश ने श्रीरामचन्द्र के आग्रह पर मार्गशैली से गान्धर्व का गान किया था और रामचरित गाया था। गान्धर्व विद्या प्राप्त करने के लिये माधुर्य स्वर प्राथमिक आवश्यकता मानी गई है। लव और कुश दोनों की स्वरसम्पन्नता को देखकर ही महर्षि बाल्मीकि ने रामायण का गान इन्हें सिखाया था। गान्धर्व में पद और स्वर दोनों का प्रमुख स्थान था। काव्य के भावों को हृदयंगम कर

उनमें गीत माधुर्य का निर्वाह बडे सुन्दर ढंग से लव–कुश ने किया। उनके संगीत में काव्य की अभिव्यक्ति तथा गीत माधुर्य, दोनों का मधुर सन्निवेश था। रामायण की शिक्षा समाप्त होने पर महर्षि बाल्मीकि ने आदेश दिया था कि रामायण का गान सदैव तन्त्री के साथ, मधुर स्वर में, निशंक रुप से किया जाना चाहिये। कुश और लव के गान से श्रोता आनन्द विभोर हो गए थे ।

बालकाण्ड के चौथे सर्ग के आठवें श्लोक में संगीत के बहुत से शब्द आए हैं जो यह बतलाते हैं कि संगीत उस समय कितनी उन्नत अवस्था में था ।

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम् ।।

कुश और लव ने रामायण काव्य को गाया। इस संदर्भ में कहा गया है कि वह काव्य पाठ्य और गेय दोनों में मधुर था। यह तीनों प्रमाणों (द्रुत, मध्य व विलम्बित) तथा सात जातियों से युक्त था, वीणा और लय के साथ उसका गान उन दोनों राजपुत्रों ने किया। वैदिक काल में जातियां नहीं थीं। इस काल में यानि रामायण काल में जातियों का विकास हो चुका था। जाति गान आधुनिक रागों की जननी मानी गई हैं और रागों का पूर्वरुप कहलाती हैं। जातिगान हमारे संगीत की एक बहुत विकसित अवस्था का द्योतक है। रामायण काल में सप्तजाति की संख्या दी है। ऐसा लगता है कि उस काल में सात शुद्ध जातियों की निष्पति हुई थी जो सम्पूर्ण थी। बाद में 11 विकृत जातियों का विकास हुआ था जिसका वर्णन भरत कृत नाट्य–शास्त्र में किया गया है। रामायण में उल्लिखित सप्त जातियाँ (4 षड्ज ग्राम की तथा 3 मध्यम ग्राम की) के उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि 7 शुद्ध जातियों का प्रयोग उस काल में था ।

जाति का उल्लेख उत्तरकाण्ड के 64वें सर्ग के द्वितीय श्लोक में भी हुआ है। 'प्रमाण' और 'तन्त्रीलयसमन्वितम्' शब्द उत्तरकाण्ड के 64वें सर्ग के तीसरे श्लोक में भी मिलते हैं। बालकाण्ड के चौथे सर्ग के 10वें श्लोक के अनुसार लव और कुश 'गान्धर्व' के तत्व को जानते थे, मधुर स्वर से सम्पन्न थे व स्थान (मन्द्र, मध्य, तार) और मूर्च्छना के जानकार थे, गन्धर्व के समान रुपवान थे। सभी स्थलों पर टीकाकारों ने गान्धर्व विद्या का अर्थ लिया है 'संगीत शास्त्र' ।

साम तथा गान्धर्व का भेद रामायणकाल में स्पष्टतया परिलक्षित होता है। सामगान केवल यज्ञों के अन्तर्गत उद्गाता द्वारा गाया जाता था और केवल वैदिक परम्परानुयायियों तक सीमित था। गान्धर्व अवैदिक संगीत था जिसका क्षेत्र जनता के सभी स्तरों तक प्रसृत था।

संगीत के स्थूल नियम वैदिक काल में बन चुके थे किन्तु रामायणकाल तक संगीत का एक विस्तृत शास्त्र बन चुका था जिसका सामान्य नाम था 'गान्धर्व'। राजाओं के बालकों की शिक्षा का 'गान्धर्व' एक आवश्यक अंग बन गया था। इसीलिये कुश, लव, राम इत्यादि के सम्बन्ध में इसका उल्लेख हुआ है।

रामायण में गान्धर्व के जिन तत्वों का उल्लेख पाया जाता है, वे हैं – स्वर, मूर्च्छना, पाठ्य, स्थान, ताल, लय, प्रमाण, जाति और रस। स्थान से अर्थ है मन्द्र, मध्य, तार जो क्रमशः उर, कण्ठ, शिर से ध्वनित होते हैं। मूर्च्छना से अर्थ है क्रमयुक्त 7 स्वरों का आरोहन, अवरोहन होना। बालकाण्ड के चौथे सर्ग में महर्षि बाल्मीकि ने यह बतलाया है कि किस प्रकार राम द्वारा आग्रह करने पर उसके पुत्रों लव और कुश ने मार्गीय संगीत के कड़े नियमों के अनुकूल रामचरित गाया। गान्धर्व ही आगे चलकर मार्गी संगीत के नाम से जाना जाने लगा। गान्धर्व के आचार्यों में नारद तथा तुम्बरु की ख्याति विशेष उल्लेखनीय थी ।

इसके अतिरिक्त वैदिक युग में व्यवसायी गायकों का एक वर्ग बन गया था। इतिहासकाल तक कुशल, व्यवसायी गायक और अधिक संख्या में हो चले थे। इतिहास काल में 'सूत' और 'मागध' लोग वीरगाथा के बहुत कुशल व्यवसायी गायक थे। ये लोग अधिकतर वीरगाथाएं गाते थे। इनके अतिरिक्त और भी कुशल व्यवसायी गायक होते थे जो भिन्न प्रकार के गान से लोगों को, जनता–जनार्दन का मनोरंजन करते थे। अयोध्या काण्ड के 65वें सर्ग के द्वितीय श्लोक में इन तीनों का एक साथ उल्लेख मिलता है। रामायण काल में गान वादन और नृत्य का प्रयोग धार्मिक तथा लौकिक दोनों समारोहों पर किया जाता था।

रामायण में वाद्य संज्ञा – प्राचीन संगीत में सभी प्रकार के बाजों की सामान्य संज्ञा 'आतोद्य' थी। तत्, अवनद्ध, घन, सुषिर इन चारों प्रकार के वाद्यों का साधारण नाम 'आतोद्य' है। 'आतोद्य' शब्द सुन्दरकाण्ड के 10 वें सर्ग के 49वें श्लोक में उल्लिखित है। इस आतोद्य से यह स्पष्ट है कि रामायणकाल में चारों प्रकार के वाद्यों का यानि तत्, सुषिर, अवनद्ध, घन, का प्रयोग होता था। सामवेद का रामायणकाल में विधिवत् गान होता था। सामवेद का गान भाद्रमास से प्रारम्भ होता था तथा सामगान से ब्राहमण वेद गान स्वध्याय प्रारम्भ करते थे। किष्किन्धा काण्ड के 28वें सर्ग के 54वें श्लोक में इसका उल्लेख है।

रामायणकाल में गीत, वाद्य, नृत्य का सर्वत्र प्रचार था। अयोध्या जैसे सुसंस्कृत नगरों में तो इसका प्रचार था ही, लंकापति रावण के यहाँ भी इसका प्रचार था। रावण स्वयं संगीत का श्रेष्ठ ज्ञाता था और वीणा वादन में निपुण था। रामायण के अनुसार रावण सामगान के माध्यम से शिव की आराधना किया करता था। शिव की अर्चना के पश्चात् गान और नृत्य करता था। सुन्दरकाण्ड के 20वें सर्ग में रावण सीता जी को प्रलोभन देता है और कहता है कि 'हे मिथिलशकुमारी मुझे अंगीकार करने पर बहुमूल्य पेय, शय्या, दिव्य आभूषण और आसन, गीत, नृत्य और वाद्य तुम्हें सब सुख भोगने को मिलेगा'। इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि उस काल में गीत, नृत्य और वाद्य का सर्वत्र प्रचार था। सुन्दरकाण्ड के 10वें सर्ग में उल्लेख है कि रावण की सभी भार्याएं गायन, वादन एवं नृत्य में प्रवीण थीं। वे विभिन्न वाद्यों जैसे विपञ्ची वीणा, पणव, डिमडिम, आडम्बर, ढोल, मृदंग, चेलिका, आदि के वादन में निपुण थी। रावण की प्रमुख भार्या मन्दोदरी भी संगीत की श्रेष्ठज्ञाता थी। कुछ विद्वानों के अनुसार सस्वर वेदपाठ की प्रणाली का प्रचलन रावण ने किया था। सुन्दरकाण्ड के छठे सर्ग में उल्लेख है कि स्वयं रावण का महल 'नूपुरों की झनकार', करधनियों की खनखनाहट, मृदंगों और तालियों की मधुर ध्वनि तथा अन्य गम्भीर घोष करने वाले वाद्यों से मुखरित हो रहा था।'

रामायण काल में उल्लिखित वाद्य – रामायण काल में तत्, अवनद्ध, सुषिर, घन सभी प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता था और उन्हें आतोद्य कहा जाता था (सुन्दर काण्ड 10 वां सर्ग–39 वां श्लोक)।

तन्त्री वाद्य 'वीणा' – रामायण में वैदिक–काल की भांति वीणा का प्रचुर प्रचार था। वीणा का उल्लेख रामायण के अयोध्याकाण्ड में 39 वें सर्ग के 39 वें श्लोक में, सुन्दरकाण्ड के 10 वें सर्ग के 37 वें और 40 वें श्लोक में हुआ है। वीणा के एक विशेष प्रकार 'विपंची' का उल्लेख सुन्दरकाण्ड के 10वें सर्ग के 41 वें श्लोक में हुआ है। रावण के महल में एक नाचने वाली सुन्दरी विपंची को लिए हुए इस प्रकार निद्रावश है मानों कोई भामिनी अपने प्रिय के साथ सोई है। विपंची वीणा 'संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ में नवतन्त्री नाम से उल्लिखित है। विपंची साधारण वीणा नहीं है, इसके

बजाने में बड़ी कुशलता चाहिये। रामायण काल में विपंची का उल्लेख एवं प्रयोग यह सिद्ध करता है कि उस समय हमारा वाद्य संगीत कितनी उन्नत अवस्था में था।

सुषिर वाद्य 'वेणु' तथा 'शंख' – वेणु का उल्लेख रामायण में किष्किन्धाकाण्ड के 30वें सर्ग के 50वें श्लोक में मिलता है। वेणु का इतिहास अति प्राचीन तथा विस्तृत है। संगीत के आदिकाल से वेणु और वीणा समस्त मानव जाति में किसी न किसी रुप में विद्यमान थे। सुन्दरकाण्ड में **वंश** शब्द का प्रयोग भी हुआ है जो कि वेणु का पर्याय ही माना जाना चाहिये ।

शंख भी फूंक का वाद्य है जो कि रामायण के युद्धकाण्ड में 42वें सर्ग के 39वें श्लोक में प्रयुक्त हुआ है ।

अवनद्ध वाद्य – रामायण में जिन अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख मिलता है वे हैं – भूमि दुन्दुभि, दुन्दुभि, भेरी, मृदंग, पणव, पटह, डिण्डिम, आडम्बर, मड्डुक इत्यादि।

रामायण के युद्धकाण्ड के 42वें सर्ग के 39वें श्लोक के साथ–साथ दुन्दुभि का भी उल्लेख मिलता है जिसमें वर्णन आया है कि राक्षसों और वानरों के संग्राम में शंख और दुन्दुभि के घोष और वेगवान राक्षसों के सिंहनाद ने पृथ्वी, आकाश और समुद्र का प्रतिध्वनित कर दिया। दुन्दुभि वाद्य वैदिक काल में भी प्रचार में था ।

भेरी, दुन्दुभि, मृदंग, शंख आदि विशेष वाद्यों का प्रयोग युद्ध में उत्साहवर्धन के लिये तथा सेना–संगठन को सूचित करने के लिये किया जाता था। विजय प्राप्ति के बाद भी इन वाद्यों का प्रयोग होता था ।

भेरी, मृदंग, पणव – ये तीनों वाद्य युद्धकाण्ड के 44वें सर्ग के 12वें 'श्लोक में प्रयुक्त हुए हैं। मृदंग सुन्दरकाण्ड के 10वें सर्ग के 42वें 'श्लोक में और 11वें सर्ग के छठे श्लोक में प्रयुक्त हुआ है। पणव भी सुन्दरकाण्ड के 10वें सर्ग के 43वें श्लोक में प्रयुक्त हुआ है। भेरी, मृदंग और पणव वाद्यों का भी दुन्दुभि के समान रण में योद्धाओं के उत्साहवर्धन के लिये प्रचुर प्रयोग होता था। पणव देव पूजा और युद्ध के समय बजाया जाता है। पटह वाद्य ढोल से मिलता जुलता था। इसका उल्लेख सुन्दरकाण्ड के 10वें सर्ग के 39वें श्लोक में हुआ है। **डिण्डिम वाद्य** डमरु के आकार का होता है किन्तु उससे कुछ छोटा होता है। इसका उल्लेख सुन्दरकाण्ड के 10वें सर्ग के 44वें श्लोक में हुआ है ।

आडम्बर एक बहुत प्राचीन वाद्य है जिसका उल्लेख ऋग्वेद में भी हुआ है। ये एक अवनद्ध वाद्य है। चारों और डम्ब–डम्ब की ध्वनि फेकने वाले वाद्य को आडम्बर बताया गया है। इसका उल्लेख सुन्दरकाण्ड के 10वें सर्ग में ही 45वें श्लोक में हुआ है। मड्डुक का उल्लेख सुन्दरकाण्ड के 10वें सर्ग में 38वें श्लोक में आया है। इसका वर्णन किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता।

मुरज, मृदंग, चेलिका – इन तीनों अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख सुन्दरकाण्ड के 11वें सर्ग में 6वें श्लोक में पाया गया है। मृदंग का रामायण में कई स्थानों पर उल्लेख पाया गया है। यह वाद्य आज भी प्रचार में है। 'भेरी' भी एक अवनद्ध वाद्य था। ऐसा वर्णन है कि रावण की भेरी का मुख सुनहला था और उसके बजाने का डण्डा सोने का था। युद्धकाण्ड के 42वें सर्ग के 34वें श्लोक में 'कोण' का उल्लेख हुआ है जिसका अर्थ है बजाने का डण्डा या उपकरण।

रामायण काल में स्वर का प्रयोग तो उन्नत दशा में था ही, इसके साथ–साथ ताल सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग जैसे – प्रमाण, लय, ताल, समताल, कला, मात्रा, शम्या भी प्रचुर मात्रा में

पाये गये हैं। शम्या दाहिने हाथ से ताल बजाने की एक सशब्द क्रिया थी। स्वर के साथ–साथ ताल का ज्ञान भी उन्नत अवस्था में था। इस काल में संगीत का विशेष स्थान था।

संगीत राष्ट्र को उन्नत करने वाला समझा जाता था। राजा, कलाकारों का परिपोषक था और वह संगीतज्ञों, कलाकारों को प्रसन्न रखना अपना कर्तव्य, अपना धर्म समझता था। यह तथ्य अयोध्याकाण्ड के 69वें सर्ग के 15 वें श्लोक में व्यक्त किया गया है। रामायणकाल में राजा और प्रजा के मनोरंजन के लिये नृत्यशालाएं और संगीतशालाएं पर्याप्त रुप में विद्यमान थी। अयोध्यानगरी में गायक, वादक, नर्तकों का संघ तो था ही, सुग्रीव की किष्किन्धा और रावण की लंका नगरी में भी इन कलाकारों का संघ विद्यमान था। गृहस्थों के गृहों और राजाओं के दरबारों में तो संगीत चलता ही रहता था, नदी तीरों और वनों तक में भी पशुओं को चराने वाले, अपनी वंशी से वायुमण्डल गुंजारित करते रहते थे। संगीत जीवन का एक अभिन्न अंग था। रामायण काल में राजा लोग कलाकारों को प्रचुर धन भी देते थे। ये बात उत्तरकाण्ड के 64वें सर्ग के 17, 18 श्लोक में निम्नलिखित घटना से सिद्ध होती हैः–

जब श्री रामचन्द्र ने अश्वमेघ यज्ञ किया तो पंडितों, वेदज्ञों के अतिरिक्त कुश और लव दोनों बालकों को भी आमंत्रित किया। ये बालक संगीत कला में प्रवीण थे, कुशल थे। इन बालकों ने दोपहर तक रामचरित के 20 सर्ग तक गाकर सुनाए, इनका गान सुनकर श्रोतागण एवं विद्वानजन सब धन्य–धन्य कहने लगे। राम अत्यन्त प्रसन्न हुए और भरत से 18000 सोने के सिक्के पारितोषिक रुप में इन महात्माओं को देने को कहा। राम नहीं जानते थे कि ये उन्हीं के पुत्र हैं इसके अतिरिक्त वह और जो कुछ चाहें यानि सम्पत्ति, हाथी, घोड़ा, गौ आदि भी देने का आदेश दिया। यह बात और है कि बालकों ने यह कहकर कि वे वन में, कन्द, फल खाकर गुजर बसर करते हैं, उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया।

किन्तु राम ने जो पुरस्कार देने की आज्ञा दी, उससे सिद्ध होता है कि राजा उस समय कलाकारों का कितना आदर, सम्मान करता था। रामायण उस समय के संगीत पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। बालकाण्ड में अश्वमेद्य यज्ञ के अवसर पर यज्ञकर्म के लिये एकत्रित ऋत्विजों में उद्गाता (प्रमुख गायक) के समादरपूर्ण स्थान का उल्लेख रामायण में किया गया है। गायकों को वही पारिश्रमिक मिलता था जो अन्य वेद पाठियों को मिलता था। दशरथ की अन्त्येष्टि के अवसर पर समग्र विद्वानों के द्वारा सामगान यथाशास्त्र किया गया था। रामायणकालीन समाज में संगीत सर्वत्र व्याप्त था। अयोध्या, किष्किन्धा, लंका आदि नगर संगीत की ध्वनि से निनादित रहते थे। संगीत कला को रामायणकाल में राज्याश्रय प्राप्त था। स्वागत तथा विदाई जैसे समारोहों में संगीत का विशेष स्थान था। राजपरिवार के सदस्यों तथा अतिथि विशेष का स्वागत शंख–दुन्दुभि के घोष तथा मागध आदि के स्तुति गान से किया जाता था।

बालकाण्ड में पुत्रेष्टि–यज्ञ का पौरोहित्य करने के लिये श्रृंग ऋषि को लेकर जब दशरथ ने नगर प्रवेश किया तब उनका स्वागत शंख–दुन्दुभियों के निर्घोश से किया गया। रामचन्द्र के वनवास से लौटने पर कुशल कलाकारों के द्वारा शंख और दुन्दुभि बजाकर उनका स्वागत किया गया। संगीत का प्रयोग सुख और दुख दोनों प्रसंगों पर किया जाता रहा है। रावण की अन्त्येष्टि के समय विविध तूर्यों के निर्घोश के साथ स्तुतिगान किया गया था। ये बात युद्धकाण्ड के 111वें श्लोक में उल्लिखित है कि तपस्वियों को लुभाने के लिए भी अप्सराओं को गान, नृत्य के लिये नियुक्त किया जाता था। श्रृंग ऋषि को मोहित करने के लिये अप्सराओं ने मधुर स्वर में गायन किया था। संगीत के साथ सुरा का सेवन भी प्रचलित था ।

अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्नः–

(क) रामायण काल में किन प्रमुख वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है?

(ख) रामायण महाकाव्य के विषय में संक्षेप में टिप्पणी कीजिए।

(ग) रामायण काल में जाति गायन के अन्तर्गत कितनी जातियों का उल्लेख है?

2. सत्य/असत्य बताइयेः–

(क) रामायण के रचयिता महर्षि बाल्मीकि भृगु गोत्र के थे।

(ख) रामायण में कुल 23000 श्लोक हैं।

(ग) रामायण काल में वाद्यों का साधारण नाम आतोघ है।

(घ) रामायण काल में विपंची वीणा का प्रयोग नहीं था।

3. बहुविकल्पीय प्रश्नः–

(क) रामायण में अभिजात संगीत के लिए निम्न शब्द का प्रयोग होता था।

(1) मार्गगायक (2) गान्धर्व (3) वेदज्ञ

(ख) वेणु का उल्लेख रामायण के निम्न भाग में प्राप्त होता है।

(1) युद्धकाण्ड (2) बालकाण्ड (3) किष्किन्धाकाण्ड

(ग) सूत एवं मागध जनसमूह निम्न गीत विधा गाने के लिए प्रसिद्ध था।

(1) सामगायन (2) वीरगाथा (3) प्रबन्ध गायन

2.5 महाभारत काल में संगीत की स्थिति

महाभारत का भारतीय साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रहा है। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक स्थिति का मानचित्र प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक महाकाव्य के रुप में इसका सर्वत्र समादर है। इस विशालकाय एवं सर्वकष महाकाव्य में प्राचीन भारतीय संस्कृति का जैसा सर्वांगीण चित्र उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर महाभारत के सम्बन्ध में– 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्'– यह मान्यता विद्वज्जन मान्य हो गई है। महाभारत का वृहत् कलेवर प्राचीन आख्यानों तथा उपाख्यानों के समावेश से निर्मित होता चला आ रहा है। तत्कालीन जनजीवन में इन कलाकारों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिककाल से लेकर जिन गाथाओं का गान यज्ञ तथा अन्य लोकोत्सवों पर किया जाता रहा, वह इसी देशी संगीत की प्रातिनिधिक रही।

महाभारत में गीत, वादित्र तथा नृत्य का प्रयोग जनजीवन के अभिन्न अंग के रुप में होता रहा है। गीत, नृत्य, नाट्य आदि का विशेष प्रयोग उत्सवों के अवसर पर किया जाता था। रैवतक पर्वत पर आयोजित लोकोत्सव में श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के द्वारा नृत्य–नाट्य देखे जाने का उल्लेख है। खाण्डवदाह के अवसर पर श्रीकृष्ण तथा अर्जुन ने जलविहार के साथ गीत, नृत्य तथा पान आदि का आयोजन किया था। द्रुपद की राजधानी में तूर्यौघ की ध्वनि सदैव प्रचलित रहती थी। पांचालराज की सभा में गीत तथा नृत्य का स्वर सदैव गूंजता रहता था। महापुरुषों के आगमन के उपलक्ष्य में संगीत का आयोजन किया जाता था जिसमें गायक वर्ग के साथ गणिकाएं भी योगदान करती थीं। महापुरुषों के नगर–निर्गमन के अवसर पर समुचित संगीत से विदाई का आयोजन

किया जाता था। ऐसे ही समय पर गीत के साथ पणव, वंश, कांस्यताल आदि समवेत वादन किये जाने का उल्लेख निम्न स्थान में पाया जाता है।

देवराज इन्द्र की सभा में अर्जुन का गीत, वाद्य, नृत्य से स्वागत किया गया था, जिसमें तुम्बुरु प्रभृति गन्धर्वों ने वीणादि वाद्यों के साथ गान किया था तथा घृताची, मेनका, रम्भा, उर्वशी आदि अप्सराओं ने भावपूर्ण नृत्य किया था।

राजसभा में संगीतज्ञ गुणियों का गौरवपूर्ण स्थान था। गान तथा नृत्य में निपुण पुरुष एवं महिलाओं को राज–कलाकार के रुप में नियुक्त किया जाता था और इनका कार्य प्रसंग–विशेष पर गीत तथा नृत्य के आयोजन प्रस्तुत करना था। संगीतकला के रसास्वादन की क्षमता तत्कालीन राजाओं में वर्तमान थी। राजाओं के पाठ्यक्रम में धनुर्वेद, हस्तविद्या, रथविद्या आदि के साथ गान्धर्व तथा अन्य ललित कलाओं का अन्तर्भाव था। राजस्त्रियाँ तथा अन्तःपुर की अन्य महिलाओं के लिये संगीतशिक्षा का विशेष प्रबन्ध था और इस कार्य के लिये वृद्ध एवं गुणी व्यक्तियों की योजना की जाती थी। बृहन्नलारुपधारी अर्जुन की नियुक्ति विराट की राजकन्या तथा राजस्त्रियों की संगीतशिक्षा के लिये किये जाने का उल्लेख महाभारत में है। महाभारत में अर्जुन को गान्धर्वविशारद बतलाया गया है। विश्वावसु गन्धर्व की परम्परा से गीत, वादित्र, नृत्य तथा साम की सशास्त्र शिक्षा उन्होंने प्राप्त की थी। अज्ञातवास में जब पाण्डव विराट राजा की सभा में पहुँचे थे, तब बृहन्नलारुपी अर्जुन ने संगीतशिक्षा के द्वारा राजसेवा करने की इच्छा प्रकट की थी।

बड़े नगरों में संगीत शिक्षा के लिये संगीतशालाओं का प्रबन्ध शासन की ओर से किया जाता था तथा इनके सम्यक् संचालन का समुचित प्रबन्ध रहता था। मत्स्यराज की राजधानी में युवतियों की नृत्यशिक्षा के लिये ऐसे ही विशाल नृत्यभवन का निर्माण किया गया था।

संक्षेप में, महाभारत काल में संगीतकला का अत्यधिक प्रचार था। वैदिक तथा लौकिक दोनों संगीत प्रणालियों का समान रुप से प्रचलन था। लौकिक संगीत प्रायः गान्धर्व नाम से व्यवहृत होता था, जिसमें कला तथा शास्त्र दोनों का अन्तर्भाव था। षड्ज तथा मध्यम ग्राम के अतिरिक्त गान्धार ग्राम का प्रचलन इस काल की विशेषता है। वीणा पर इन ग्रामों की मूर्च्छनायें संस्थापित की जाती थी। नृत्य के अन्तर्गत विविध हावभावों का प्रयोग होता था तथा गीत एवं वाद्य के साथ इनका संयुक्त प्रयोग लोकोत्सवों पर उल्लास की अभिव्यक्ति के रुप में किया जाता था। तन्तुवाद्यों के अन्तर्गत वीणा का अत्यधिक प्रचलन था और इसका प्रयोग यज्ञ में प्रवर्तमान वैदिक संगीत तथा लोकात्सवों पर प्रवर्तित जनसंगीत में बराबर होता था। वीणा तथा वल्लरी के अतिरिक्त वेणु, मृदंग, पणव, पटह, मुरज, भेरी, पुष्कर तथा शंख इत्यादि वाद्यों का प्रचलन था। गीत, वाद्य तथा नृत्य के साथ मृदंगादि चर्मनद्ध वाद्यों के अतिरिक्त हाथ से ताल देने की प्रणाली विद्यमान थी। गायक, वादक, नर्तक, कथावाचक, सूत, मागध आदि कलाकारों को राज्य की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त था।

रामायण काल की अपेक्षा महाभारत काल का समाज अधिक विस्तृत, जटिल एवं संघर्षपूर्ण हो गया था । ऐसे समय में स्वभावतः कला, शिल्प इत्यादि की गति अवरुद्ध हो जाती है। फिर भी महाभारत काल में भी हमारा संगीत पर्याप्त रुप से उन्नत अवस्था में था। महाभारत युग में संगीत शास्त्र को मुख्यतः 'गान्धर्व' शास्त्र कहते थे। महाभारत में संगीत शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता। उसके स्थान पर गान्धर्व शब्द का प्रयोग ही अधिकतर मिलता है। अतिवाहू, हा हा, हू हू, और तुम्बरु 'गन्धर्वों' में श्रेष्ठ समझे जाते थे। आदि पर्व में ही कम्बल और अष्वतर गन्धर्वों का उल्लेख है। नारद की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वह मनोरम और मधुर–ध्वनि युक्त कच्छपी–वीणा बजाते थे और नृत्य और गीत दोनों में कुशल थे। नारद, तुम्बरु आदि गन्धर्वों का उल्लेख रामायण में भी आया है। महाभारत में गीत और गान्धर्व का प्रयोग अनेक बार समानार्थक

है। कहीं–कहीं तो दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग मिलता है। संगीत–शास्त्र को गान्धर्वशास्त्रम् कहा गया है। गान्धर्व गीत में तो कुशल थे ही, नृत्य और वाद्य में भी पारंगत थे। महाभारत समाज में गीत, वाद्य, नृत्य तीनों का प्रचुर प्रचार था।

गान्धर्व संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। संगीत में षड्ज, मध्यम, गान्धार तीनों ग्रामों के प्रयोग का उल्लेख है। संगीत में कुशल, सुशिक्षित कलाकार मौजूद थे एवं व्यवसायी कलाकारों का पर्याप्त आदर होता था।

सभापर्व के सातवें अध्याय के 24वें श्लोक में अप्सराओं और गन्धर्वों के उल्लेख में कहा गया है कि वे गीत, वाद्य और नृत्य तीनों जानते थे। गीत, वाद्य, नृत्य तीनों सभ्य समाज में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे तथा सुशिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति के लक्षण समझे जाते थे। संगीत सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। यज्ञ के समय, विवाह, पुत्र–जन्म इत्यादि उत्सवों पर नृत्य, गान और वादन होते थे। रणभूमि में रणवाद्यों का प्रयोग होता था। आदिपर्व के 70वें अध्याय में कच ओर देवयानी की कथा के प्रसंग में कच ने गाकर, बजाकर, और नाचकर देवयानी को सन्तुष्ट किया।

नितन्तु राजा की कन्या भौमष्वी के विषय में कहा गया है कि वह वीणा के समान मधुरालापा थी। अर्जुन गान, वादन और नृत्य तीनों जानते थे। उन्होंने इन्द्र के आदेशानुसार इन्हें चित्रसेन गन्धर्व से सीखा था। फिर विराट के राजा की कन्या उत्तरा को इन तीनों की शिक्षा दी। उसकी सखियों और परिचारिकाओं को भी ये सब विद्याएं सिखलाई और वे इन सब के प्रिय हो गए।

संगीत संस्कृति का एक आवश्यक अंग समझा जाता था। साधारण जन अपने मनोरंजन के लिये संगीत को व्यवहार में लाते ही थे। इसके अतिरिक्त उच्च श्रेणी के सभ्यजन भी संगीत की शिक्षा प्राप्त करते थे। अर्जुन, उत्तरा, कच, देवयानी इत्यादि ने संगीत में उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त की थी। उस समय के राजाओं ने बड़े–बड़े नगरों में संगीतशालाएं बनवा रखी थीं जिनमें दिन में बालक बालिकाओं को नृत्य, गीत आदि की शिक्षा दी जाती थी। उदाहरण के लिए मत्स्यराज ने नर्तनशाला बनवाई थी, वहां दिन में बालक–बालिकाएं नृत्य की शिक्षा ग्रहण करते थे और रात में अपने घर चले जाते थे।

महाभारत में षड्ज, ऋषभ, गन्धार इत्यादि सात स्वरों का स्पष्ट कथन है। ये बात शान्तिपर्व के 184 सर्ग के 39वें श्लोक में उल्लिखित है। महाभारत काल में यज्ञ के समय सामगान के अतिरिक्त स्तुति, स्तोत्र और गाथा के गान का भी उल्लेख मिलता है। किसी राजा, वीर या यजमान की प्रशंसा में जो गीत गाया जाता था उसे 'गाथा' कहते थे। रामायणकाल की तरह महाभारतकाल में यज्ञ के अवसर पर बड़ा उत्सव मनाया जाता था, जिसमें सामगान के अतिरिक्त विशेष रुप से नृत्य और गान का प्रबन्ध भी किया जाता था। सभापर्व में यह वर्णन है कि राजसूय यज्ञ के समय जो ब्राहम्ण आमंत्रित किये गए थे, उनका नृत्य इत्यादि से मनोरंजन किया गया था। (सभापर्व 33 सर्ग का 49 श्लोक)

अश्वमेघ पर्व में यह उल्लेख है कि ब्राहम्णों को अच्छी तरह भोजन कराने के अनन्तर वाद्य इत्यादि बजाया गया। (अश्वमेघ पर्व 85 सर्ग में 37वां श्लोक) अश्वमेघ पर्व में उल्लिखित एक और उत्सव में यज्ञ के समय गायन में पारंगत नारद, तुम्बरु विश्वावसु, चित्रसेन और नृत्य में कुशल अन्य गन्धर्वों ने यज्ञ के समय एकत्रित हुए ब्राहमणों का संगीत द्वारा मनोरंजन किया। (अश्वमेघ पर्व 88 सर्ग का 39, 40 श्लोक)

रामायणकाल के समान महाभारतकाल काल में नित्य के सामाजिक जीवन में संगीत का प्रमुख स्थान था । (शान्तिपर्व 191 सर्ग का 16वां श्लोक) सब प्रकार के उत्सवों में नृत्य, गीत

इत्यादि का व्यवहार होता था। महान व्यक्ति, राजा, मंगलगान वादन इत्यादि से जगाए जाते थे। आदिपर्व के 188 सर्ग में यह उल्लेख आया है कि अब अर्जुन ने लक्ष्यवेध किया तब चारों ओर आनन्द छा गया। लोगों ने जी भरकर उत्सव मनाया। वादकों ने भिन्न–भिन्न प्रकार के वाद्य बजाए। सूत और मागधों ने मधुर स्वर में स्तुतिगान किया। परीक्षित के जन्मदिन पर खूब नृत्य–गान हुआ। नगर में नर्तकों के नृत्य से और गायकों के मधुर स्वर से धूम मच गई।

सभापर्व में यह वर्णन आया है कि जब सभा का निर्माण हो गया और युधिष्ठर ने उसमें प्रवेश किया तो खूब उत्सव मनाया गया। युधिष्ठर ने सहस्त्रों निमंत्रित व्यक्तियों को नाना प्रकार के भोजन खिलाए और उस उत्सव में गानवादन भी खूब हुआ। (सभापर्व का 4था सर्ग–38, 39 श्लोक)

तुम्बरु के आदेश से गीत, वाद्य में कुशल, शम्या ताल में प्रवीण, प्रमाण, लय, स्थान इत्यादि के जानकार, मनस्वी किन्नरों ने गन्धर्वों सहित, गन्धर्व शास्त्र के नियमानुसार दिव्य तानों का गान किया।

युद्ध के समय शंख, भेरी आदि वाद्य बजाए जाते थे। श्रीकृष्ण के प्रयाण के समय मृदंग आदि अवनद्ध वाद्य, शंख और भिन्न–भिन्न प्रकार के वाद्य बजाए गए।

सभापर्व (58 सर्ग–36 श्लोक) के अनुसार महान व्यक्तियों का जागरण तो मंगलगान के साथ होता ही था, बड़े लोगों का शयन भी मधुर गान के साथ होता था। आदिपर्व में उल्लेख है कि मधुर गीत से, वीणा की मधुर ध्वनि से स्तुति और मंगलगान के साथ जगाए जाने पर अर्जुन जागे। (आदिपर्व 218 सर्ग का 14वां श्लोक)

श्रीकृष्ण जब सोकर उठे तब पाणिस्वनिकों (हाथ से वाद्य बजाने वालों) ने मंगल पाठ किया, गायकों ने गान किया, वादकों ने बहुत से शंख, मृदंग बजाए और उनके भवन में वीणा, पणव, वेणु का मनोरम स्वर, उल्लास सहित सुनाई दिया। (शान्तिपर्व 53 सर्ग–6 श्लोक) फिर राजा युधिष्ठिर के उठने पर भी गीत वाद्य के मधुर स्वरों से पूर्ण मंगल गीत गाए गए। (शांतिपर्व 53 सर्ग–6 श्लोक)

गन्धर्वों के अतिरिक्त गायक – समाज में गन्धर्व अभिजात संगीत के गायक थे। इनके अतिरिक्त स्तुति, मंगल, वीरगाथा, इत्यादि के व्यवसायी गायक भी थे जो नट, सूत, बन्दी, मागध, वैतालिक कहलाते थे। इनके विषय में कई जगह उल्लेख है। जो विविध प्रकार की ताल का प्रयोग करके गाता था उसे वैतालिक कहते थे। सूत, मागध के समान वैतालिक भी वीरगाथाओं और मंगलगीत में प्रवीण होता था। मंगलगीत विशेष ग्राम राग में और विशेष छन्द और ताल में होता था। ये कैशिक राग में होता था ।

महाभारत में प्रयुक्त मुख्य वाद्य – महाभारत मे तत्, सुषिर, अवनद्ध व घन, सभी प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता था और इनके बजाने वाले कुशल–साधुशिक्षित कलाकार विद्यमान थे।

प्रयुक्त वाद्यों में भेरी, तूर्य (तुरही), वारिज (शंख), पणव, कांस्य (कांसे का बना ताल वाद्य, जैसे झांझ, मंजीरा), शंख, दुन्दुभि, आनक(आनक एक बड़ा भारी चमड़े से मढ़ा हुआ वाद्य था जो सेना में वीरों को उत्साहित करने के लिये प्रयोग किया जाता था), गोमुख (तुरही जैसा वाद्य), मृदंग, झरझरी, आडम्बर, वीणा, वेणु का उल्लेख आया है। कुछ स्थलों पर मुरज का उल्लेख भी है। जो वाद्य रामायण काल में प्रयुक्त हुए हैं, लगभग सभी वाद्य महाभारतकाल में भी उल्लिखित हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. रिक्त स्थान की पूर्तिः–

(क) अर्जुन को ..... रुप में संगीत शिक्षा के लिए नियुक्त किया गया।

(ख) महाभारत काल में षड्ज, मध्यम के साथ ..... ग्राम का प्रचलन था।

(ग) महाभारत काल में तन्तु वाद्यों में वीणा एवं ..... का सर्वाधिक प्रचलन था।

(घ) महाभारत युग में संगीत शास्त्र को ..... शास्त्र कहते थे।

2. लघु उत्तरीय प्रश्नः–

(क) महाभारत काल में संगीत की स्थिति को संक्षेप में बताइये।

(ख) महाभारत युग में संगीतज्ञों को क्या स्थान प्राप्त था ?

(ग) महाभारतकालीन प्रमुख वाद्यों का विवरण दीजिए।

3. बहुविकल्पीय प्रश्नः–

(क) महाभारत काल में निम्नलिखित कितने स्वरों का स्पष्ट वर्णन है।

(1) छः (2) सात (3) आठ

(ख) युद्ध के समय महाभारत युग में कौन सा वाद्य बजाया जाता था?

(1) भेरी (2) वीणा (3) पण

(ग) महाभारत काल में स्तुति एवं मंगल गान के लिए गायक होते थे।

(1) सूतगायक (2) प्रवीण (3) तुम्बरु

2.6 सारांश

रामायण एवं महाभारत प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के परिज्ञान का महत्वपूर्ण स्रोत है। वास्तव में परम्पराप्रिय भारत में पुरातन सांस्कृतिक परम्परा को अन्तर्निहित करने का श्रेय रामायण एवं महाभारत ग्रन्थों को है। संगीतशास्त्र के लिए गान्धर्व संज्ञा थी, जिसके अन्तर्गत गीत तथा वाद्य दोनों का अन्तर्भाव था। रामायण एवं महाभारत कालीन समाज में संगीत सर्वत्र परिव्याप्त था। महाभारत काल में साम गायन एवं गान्धर्व दोनों का विपुल प्रचार था। गायक, वादक, नर्तक, कथावाचक, सूत, मागध आदि कलाकारों को राज्य की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त था। इन दोनों महाकाव्यों के समय वैदिक संगीत अपने उत्कर्ष पर था। रामायण एवं महाभारत काल में आध्यात्मिक व धार्मिक दृष्टि से संगीत का विशेष प्रयोग होता था। संगीत के उत्थान की दृष्टि से यह दोनों काल विशेष रुप से महत्वपूर्ण हैं।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.4 :–

2. सत्य/असत्य बताइयेः–

(क) रामायण के रचयिता महर्षि बाल्मीकि भृगु गोत्र के थे। **(सत्य)**

(ख) रामायण में कुल 23000 श्लोक हैं। **(असत्य)**

(ग) रामायण काल में वाद्यों का साधारण नाम आतोघ है। **(सत्य)**

(घ) रामायण काल में विपंची वीणा का प्रयोग नहीं था। **(असत्य)**

3. बहुविकल्पीय प्रश्नः–

(क) उत्तरः गान्धर्व (ख) उत्तरः किष्किन्धाकाण्ड (ग) उत्तरः वीरगाथा

2.5 :–

1. रिक्त स्थान की पूर्तिः–

(क) अर्जुन को .....**वृहन्नला**..... रुप में संगीत शिक्षा के लिए नियुक्त किया गया।

(ख) महाभारत काल में षड्ज, मध्यम के साथ **.....गन्धार....** ग्राम का प्रचलन था।

(ग) महाभारत काल में तन्तु वाद्यों में वीणा एवं ....**वल्लकी**..... का सर्वाधिक प्रचलन था।

(घ) महाभारत युग में संगीत शास्त्र को **....गान्धर्व.....** शास्त्र कहते थे।

3. बहुविकल्पीय प्रश्नः–

(क) उत्तरः सात (ख) उत्तरः भेरी (ग) उत्तरः सूतगायक

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पंराजपे, शरच्चन्द्र श्रीधर, (1969), भारतीय संगीत का इतिहास, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।

2. वसन्त, (1997), *संगीत विशारद*, संगीत कार्यालय, हाथरस।

3. राजन, डा0 रेणु, (2010), भारतीय शास्त्रीय संगीत के विविध आयाम, अंकित पब्लिकेशन, नई दिल्ली

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शर्मा, भगवत शरण, 1993, भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत कार्यालय, हाथरस।

2. जोशी, उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास, मान सरोवर प्रकाशन, फिरोजाबाद।

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) रामायण काल समाज में संगीत की स्थिति क्या थी? विस्तार से समझाइये।

(ख) महाभारत युग में संगीत को क्या स्थान प्राप्त था? चर्चा कीजिए।

इकाई 3 – दक्षिण भारतीय संगीत का सामान्य अध्ययन

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 दक्षिण भारतीय संगीत का परिचय
3.4 दक्षिण भारतीय संगीत के स्वर
3.5 दक्षिण भारतीय संगीत के थाट
3.6 दक्षिण भारतीय संगीत की रचनाएं
3.7 दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति के प्रमुख वाद्य
3.8 दक्षिण भारतीय ताल पद्धति
3.9 दक्षिण भारतीय संगीत की हिन्दुस्तानी (उत्तर भारतीय) संगीत से तुलना
3.10 सारांश
3.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.13 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई प्रदर्शन कला–संगीत में स्नातकोत्तर, चतुर्थ सेमेस्टर (एम0पी0ए0एम0–605) पाठ्यक्रम की तृतीय इकाई है। पिछली इकाई में आप रामायण एवं महाभारत काल में संगीत की स्थिति तथा शारंगदेव द्वारा संगीत रत्नाकर में वर्णित संगीत से भी परिचित हो चुके होंगे।

प्रस्तुत इकाई में दक्षिण भारतीय संगीत का अध्ययन प्रस्तुत है। दक्षिण भारतीय संगीत के स्वर, थाट, रचनाओं, ताल पद्धति आदि के विषय में भी इस इकाई में विस्तार से समझाया गया है। दक्षिण भारतीय संगीत व उत्तर भारतीय संगीत में कुछ समानताएं व कुछ विषमताएं भी हैं जिन्हें इस इकाई के माध्यम से समझाया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप दक्षिण भारतीय संगीत के विभिन्न पहलुओं से अवगत हो सकेंगे। दक्षिण भारतीय संगीत व उत्तर भारतीय संगीत की समानताओं व विभिन्नताओं से भी आप परिचित हो सकेंगे। आप दक्षिण भारतीय संगीत के विभिन्न स्वरों, थाट, रचनाओं, ताल पद्धति आदि से भी परिचित हो सकेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप :–

- दक्षिण भारतीय संगीत को समझ सकेंगे।
- दक्षिण भारतीय संगीत के विभिन्न पहलुओं जैसे स्वर, थाट, रचनाओं, ताल पद्धति आदि से परिचित हो सकेंगे।
- दक्षिण भारतीय व उत्तर भारतीय संगीत पद्धति व ताल पद्धति में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे।

3.3 दक्षिण भारतीय संगीत का परिचय

प्राचीन काल से लेकर 1300 ई0 तक पूरे भारत में एक ही शास्त्रीय संगीत पद्धति का प्रचलन था। मुसलमानों के आने के पश्चात भारतीय संस्कृति में मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा। भारत का उत्तरी क्षेत्र मुस्लिम (फारस, ईरान इत्यादि) संस्कृति, संगीत, कला आदि से अत्यधिक प्रभावित हुआ। जिसका परिणाम यह हुआ कि जो संगीत ईश्वर की आराधना के लिए किया जाता है था वह शासकों को खुश करने व भौतिक साधनों की प्राप्ति के साधन के रूप में प्रयोग होने लगा। दक्षिणी क्षेत्र मुसलमानों के आक्रमण से बचा रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ का संगीत बाह्य संस्कृति से अप्रभावित रहा। भगवतशरण शर्मा के अनुसार– "दक्षिण भारत मुसलमानों के आक्रमणों से बचा होने के कारण इनके प्रभाव में नहीं आया। अतः वहाँ की संस्कृति एवं संगीत, उत्तर भारत की संस्कृति एवं संगीत से भिन्न अपने शुद्ध रूप में कायम रहा। इसी के परिणामस्वरूप ही भारतीय संगीत में दो अलग–अलग शैली उत्तरी एवं दक्षिणी संगीत पद्धति का निर्माण हुआ"।

दक्षिण भारतीय संगीत का उद्भव एवं विकास – नाट्यशास्त्र से लेकर संगीतराज ग्रन्थों तक के अध्ययन से यही पता चलता है कि सम्पूर्ण भारत में एक ही संगीत पद्धति प्रचलित थी। नाट्यशास्त्र में किसी भी विशेष स्थान से सम्बन्धित सांगीतिक संस्कृति का वर्णन नहीं है जिसे दक्षिण भारतीय संगीत या कर्नाटक संगीत माना जाए। कुछ विद्वानों के अनुसार संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय तक दक्षिण भारतीय संगीत के पृथक रूप का प्रारम्भ हो गया था। कल्लिनाथ द्वारा

विभिन्न संज्ञाओं जैसे पंचश्रुतिक, षडश्रुतिक, जन्य–जनक मेल आदि का प्रयोग किया जाना उस समय में दक्षिण भारतीय संगीत के अस्तित्व को दर्शाता है। अशोक कुमार ने अपनी पुस्तक संगीत रत्नावली में लिखा है कि– "कुछ विद्वानों के अनुसार संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने जिस संगीत पद्धति को अपनाया है, लगभग उसी का अनुसरण बाद के रामामात्य आदि और उसके बाद के विद्वानों ने भी किया, क्योंकि रामामात्य दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति के विद्वान माने जाते हैं, इसलिए स्पष्ट हो जाता है कि संगीतरत्नाकर के काल में दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति के बीज अंकुरित हो चुके थे।" पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे के अनुसार–" विद्वानों का मत है कि संगीत की दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं, उनमें से एक को कर्नाटकी और दूसरी को हिन्दुस्तानी प्रणाली कहा जाता है। मद्रास के आस–पास के क्षेत्र में जो संगीत प्रणाली प्रसिद्ध है, उसको कर्नाटकी कहा जाता है तथा शेष भारत में सर्वत्र हिन्दुस्तानी प्रणाली प्रचलित है।"

"सन् 1565 ई0 में तलकोट्टा युद्ध में विजयनगर राजधानी के नष्ट हो जाने के पश्चात् तंजौर, मदुरा, मैसूर, जिज्जी और पेत्रुकोण्डा, इन पाँच स्वतंत्र नायक राज्यों का उदय हुआ। इनमें तंजौर अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न था, अतः यहाँ विजयनगर के अनेक कलाकार संरक्षण पाने के साथ ही अपनी कला के विकास व विस्तार के अनुकुल वातावरण देखकर स्थाई रूप से बस गए। अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल से प्रसिद्धि प्राप्त दक्षिणात्य संगीतज्ञ गोपाल नायक ने तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए 'लक्ष्यसाहित्य' को आलाप, ठाय, गीत और प्रबन्ध नामक चार भागों में विभाजित किया। यही 'चतुर्दण्डी' नाम से प्रचलित हुआ। चतुर्दण्डी साहित्य को बीस तालपत्र की पुस्तकों में लिखकर सुरक्षित किया गया। यह ग्रन्थ 'तंजौर सरस्वती महल पुस्तकालय' में सुरक्षित रूप में रखा गया है।" वर्तमान दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति पर जिस ग्रन्थ का सबसे अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है वह शाहजी और उनके भाई तुलजा महाराज का 'संगीतसारामृत' है।

3.4 दक्षिण भारतीय संगीत के स्वर

दक्षिण भारतीय संगीत में शुद्ध तथा विकृत स्वर मिलाकर कुल 12 स्वर हैं। 'सा' और 'प' अचल स्वर हैं तथा शेष चल स्वर कहलाते हैं। चल स्वर जब अपने स्थान से ऊपर या नीचे हों तो उन्हें क्रमशः तीव्र या शुद्ध स्वर कहते हैं। दक्षिण भारतीय संगीत में शुद्ध स्वरों की स्थिति उत्तर भारतीय संगीत के समान ही है। दक्षिण भारतीय संगीत में विकृत स्वरों की स्थिति उत्तर भारतीय संगीत से अलग है तथा इनके नामों में भिन्नता है। दक्षिण भारतीय संगीत में स्वर की शुद्ध स्थिति पहले मानी जाती है तथा शुद्ध स्वर के बाद विकृत स्वर आते हैं, जो प्राचीन भारतीय संगीत परम्परा के समान है। विकृत स्वरों का नामकरण भी श्रुति संख्या के आधार पर है। जैसे विकृत 'रे' को चतुःश्रुति ऋषभ या षट्श्रुति ऋषभ कहते हैं। विकृत 'ध' को चतुःश्रुति धैवत या षट्श्रुति धैवत कहते हैं। विकृत 'ग' को साधारण गान्धार तथा अन्तर गान्धार कहते हैं। विकृत 'नि' को कैशिक निषाद तथा काकली निषाद कहते हैं। दक्षिण भारतीय संगीत में स्वरों की कोमल अवस्था जैसी कोई स्थिति नहीं है। इस प्रकार यह देखने में आता है कि स्वरों की संख्या तो सोलह(16) हो जाती है किन्तु स्वर स्थान बारह(12) ही हैं। दक्षिण भारतीय संगीत के स्वरों का श्रुतियों के आधार पर अध्ययन करने से यह भी पता चलता है कि स्वरों की शुद्ध अवस्था कम श्रुतियों वाली अर्थात् नीची होती है और विकृत अवस्था अधिक श्रुतियों वाली अर्थात् ऊँची होती है जो उत्तर भारतीय संगीत के विपरीत है। दक्षिण भारतीय व उत्तर भारतीय संगीत के स्वरों की स्थिति निम्न तालिका से समझी जा सकती है।

	उत्तर भारतीय स्वर		दक्षिण भारतीय स्वर
1.	षड्ज	–	षड्ज
2.	कोमल ऋषभ	–	शुद्ध ऋषभ
3.	शुद्ध ऋषभ	–	चतुःश्रुति ऋषभ या शुद्ध गान्धार
4.	कोमल गान्धार	–	षट्श्रुति ऋषभ या साधारण गान्धार
5.	शुद्ध गान्धार	–	अन्तर गान्धार
6.	शुद्ध मध्यम	–	शुद्ध मध्यम
7.	तीव्र मध्यम	–	प्रति मध्यम
8.	पंचम	–	पंचम
9.	कोमल धैवत	–	शुद्ध धैवत
10.	शुद्ध धैवत	–	चतुःश्रुति धैवत या शुद्ध निषाद
11.	कोमल निषाद	–	षट्श्रुति धैवत या कैशिक निषाद
12.	शुद्ध निषाद	–	काकलि निषाद

इस प्रकार यह पता चलता है कि दक्षिण भारतीय संगीत के शुद्ध(रे, ध) उत्तर भारतीय संगीत के कोमल (रे, ध) हैं, और शुद्ध ग, नि उत्तर भारतीय संगीत के शुद्ध रे, ध हैं। अतः दक्षिण भारतीय शुद्ध स्वर सप्तक निम्न प्रकार का होगा– सा रे ग म प ध नि । उत्तर भारतीय शुद्ध स्वर सप्तक – सा रे रे म प ध ध । दक्षिणी संगीत में उपरोक्त शुद्ध सप्तक 'मुखारी मेल' के नाम से जाना जाता है।

3.5 दक्षिण भारतीय संगीत के थाट

उत्तर भारतीय संगीत में जिसे 'थाट' कहते हैं, दक्षिण भारतीय संगीत में उसे 'मेल' कहा जाता है। मेल के आधार पर राग वर्गीकरण का श्रेय पं0 व्यंकटमुखी को जाता है। दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति में कुल 72 मेल माने गये हैं। दक्षिण भारतीय पद्धति में एक ही मेल (थाट) में एक स्वर के दो रूपों का प्रयोग एक साथ किया जा सकता है, परन्तु उत्तर भारतीय संगीत में यह प्रयोग मान्य नहीं है। उत्तर भारतीय संगीत के दस थाटों के समकक्ष दक्षिण भारतीय संगीत के मेल निम्न तालिका में वर्णित हैः–

	हिन्दुस्तानी थाट		मेलकर्त्ता
1.	भैरवी	–	हनुमत तोड़ी
2.	भैरव	–	मायामालवगौड
3.	आसावरी	–	नटभैरवी
4.	काफी	–	खरहरपिया
5.	खमाज	–	हरिकाम्भोजी
6.	बिलावल	–	धीरशंकराभरणम्
7.	तोड़ी	–	शुभपंतुवराली
8.	पूर्वी	–	कामवर्धिनी
9.	मारवा	–	गमनप्रिया
10.	कल्याण	–	मेचकल्याणी

दक्षिण भारतीय संगीत में कई ऐसे राग हैं जो उत्तर भारतीय संगीत में भी प्रयोग किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कुछ राग दोनों पद्धतियों में समान हैं जैसे – राग हंसध्वनि, सिहेन्द्रमध्यम, चारूकेशी, किरवाणी, कलावती, आभोगी, नारायणी आदि। दक्षिण भारतीय संगीत का राग 'हमीरकल्याणी' (मुतुस्वामी दीक्षित रचित) उत्तर भारतीय राग हमीर और केदार के मिश्रण से बना हुआ मानते हैं। दक्षिण भारतीय संगीत के राग मध्यमावती, यमुनाकल्याणी, जिजावंती, रविचन्द्रिका, शिवपंतुवराली तथा ललिता आदि क्रमशः उत्तर के मधुमादसारंग, यमनकल्याण, जयजयवन्ती, रागेश्री, तोड़ी तथा ललित आदि रागों से मिलते–जुलते राग हैं। इसी प्रकार दक्षिण का शुद्ध धन्यासी राग उत्तर भारतीय 'धानी' (वर्तमान) के काफी समान है। इस प्रकार दक्षिण में विहाग व खमाज उत्तर भारत के समान गाए जाते हैं। उत्तर भारत का मालकौंश दक्षिण के हिंडोल के पूर्णतः समान है। अतः उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह बात स्पष्ट होती है कि दक्षिण भारतीय व उत्तर भारतीय संगीत पद्धतियों का मूल एक ही है किन्तु विभिन्न कारणों से इन दोनों पद्धतियों में काफी अन्तर आ गया है।

3.6 दक्षिण भारतीय संगीत की रचनाएं

1. प्रबन्धगाान – भारतीय संगीत की प्राचीनतम परम्पराओं में प्रबन्धगान का नाम आता है। के0 वासुदेव शास्त्री द्वारा लिखी पुस्तक 'संगीत शास्त्र' के अनुसार–"दक्षिणात्य संगीत परम्परा में सम्पूर्ण राग को 'पन' और षाड्व औड्व राग की संज्ञा 'तिरम्' थी।" इन्हीं पन और तिरम् में देवार प्रबन्ध गाए जाते थे। ये रचनाएं लगभग 7वीं, 8वीं शताब्दी के आस–पास की मानी जाती है। जिस प्रकार शैव सम्प्रदाय में 'देवार प्रबन्ध' है उसी प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय में दिव्यप्रबन्ध आलवार है जो आलवार भक्तों द्वारा रचित है। इन प्रबन्धों में संसार त्याग, आध्यात्म ज्ञान, ईश्वर उपासना, वैराग्य, शरणागति भाव निहित है। इस कारण से यह माना जाता है कि 15–16वीं शताब्दी के आस पास जो कीर्तन की विशिष्ट पद्धति प्रचलित हुई, वह प्रबन्ध के रूप में सामने आई। उत्तर भारतीय व दक्षिण भारतीय पद्धतियों के विभिन्न प्रकार के प्रबन्धों में प्राचीन प्रबन्ध गान का स्पष्ट प्रभाव दिखता है।

2. पदम् – दक्षिण भारतीय पद्धति में पदम् का विशेष स्थान है। पदम् के रचियताओं में पुरन्दरदास, कनकदास, जगन्नदास तथा मुट्टु ताण्डव का नाम प्रमुख है। 17वीं सदी के क्षेत्रज्ञ के पदम् अत्यधिक प्रचलित हुए। पदम् के अन्य रचनाकारों में तंजौर के नरेश शाहजी (मराठी व तेलगु भाषा में) स्वातीतिरूनल महाराज (संस्कृत, तेलगु व मलयालम भाषा में) व सुब्बाराय अय्यर का नाम आता है। पदम् में मुख्य रूप से तीन पंक्तियाँ होती हैं – पल्लवी, अनुपल्लवी व चरणम्। गायक किसी भी पंक्ति अथवा अंग से गायन आरम्भ करने के लिए स्वतन्त्र है। यह कीर्तन से भी अधिक विलम्बित लय में गाई जाती है। यह एक श्रृंगार रस व भक्ति रस प्रधान रचना है। इनकी रचना विशेषकर 'भरतनाट्यम्' नृत्य के लिए की गई किन्तु इसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से भी होता है। मूल रूप से उस गीत को पदम् कहते हैं जिनमें पद प्रधान हो तथा जो भक्ति भाव से युक्त हो। पदम् में जीवात्मा, परमात्मा, गुरू–भक्त, कृष्ण की श्रृंगार लीलाओं आदि विषयों का वर्णन मिलता है। जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' पदम् शैली में ही रचित है। भाव प्रधान होने के कारण धातु (सरगम) तथा मातु (काव्य) पक्ष गौण रहता है।

3. कीर्तन/कीर्तनम् – दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति की महत्वपूर्ण रचनाओं में कीर्तन का नाम आता है। कीर्तन भगवान की उपासना सम्बन्धित रचना है जो राग व ताल नियमों मे निबद्ध होती है। इसके तीन अंग माने गए हैं – पल्लवी, अनुपल्लवी व चरणम् जो प्राचीन प्रबन्ध के अवयव क्रमशः ध्रुव, अंतरा व आभोग के समान है। कुछ कीर्तन अनुपल्लवी रहित भी होते हैं। कीर्तन में एक से अधिक चरण भी हो सकते हैं। कीर्तन तमिल, तेलगु, कर्नाटकी व संस्कृत भाषा में रचित होते हैं। ईश्वर की अराधना, प्रार्थना, गुण वर्णन आदि इसका मुख्य विषय रहता है। ऐसा माना जाता है कि 14वीं–15वीं शताब्दी के 'तालपाकम्' कीर्तन के प्रथम रचनाकार थे। अन्य रचियताओं में श्री त्यागराज, मुतुस्वामी, दिक्षितार, श्यामाशास्त्री, पुरून्दरदास, स्वातितिरूनाल आदि का नाम आता है। कई कीर्तनों में ऐसा देखा जाता है कि तीसरा अंग 'सरगम' गायन जिसे कर्नाटक संगीत में 'चिट्टे स्वर' कहा जाता है, चरण के बाद गाया जाता है। कुछ कीर्तनों में चिट्टेस्वर का गान अनुपल्लवी के बाद किया जाता है तथा चरण के बाद पद का गान, चिट्टास्वर का अनुसार किया जाता है। एक मतानुसार कीर्तन में अधिक आलाप व तान का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। डॉ0 सुभद्रा चौधरी की पुस्तक 'भारतीय संगीत में निबद्ध' के अनुसार– "राग की अभिव्यक्ति और उसके माध्यम से रसभाव की व्यंजना इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। कीर्तन में मुक्त विस्तार अधिक होता है।"

4. कृति – दक्षिण भारतीय संगीत की रचना कृति 'कीर्तन' का विकसित रूप मानी जाती है। कलात्मक दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण रचना है। कुछ विद्वानों के अनुसार इसकी उत्पत्ति 15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानी गई है। कृति में मुख्यतः श्रृंगार, करूण व भक्ति रस की प्रधानता होती है। इसमें भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की प्रधानता होती है। यह प्रचलित व अप्रचलित दोनों प्रकार के रागों में निबद्ध मिलती है तथा गाई जाती है। कृति में स्वर का प्रमुख स्थान है तथा साहित्य गौण रहता है। इसके तीनों अंगों– पल्लवी, अनुपल्लवी तथा चरणम् का प्रयोग क्रम से किया जाता है। चरणम् की संख्या एक से अधिक भी हो सकती है या फिर यह भी संभव है कि एक भी चरणम् ना हो। जिस रचना में एक से अधिक चरणम् हो तो चरणम् में रचियता के नाम की छाप होती है। ऐसे चरणम् 'मुद्राचरणम्' कहलाते हैं। इसमें ख्याल की भाँति बोल आलाप व बोल तानों का प्रयोग किया जाता है जिन्हें 'नेरावल' कहा गया। कृति का गायन मध्य लय व द्रुत लय में किया जाता है। कृति मुख्यतः आठ मात्रा की आदि ताल व छः मात्रा की रूपक ताल में निबद्ध होती है। डॉ0 सुभद्रा चौधरी के अनुसार– "राग, ताल, गति, लय और वर्ण्य विषय में वाग्गेयकार को पूरी स्वतन्त्रता होने के कारण इनमें अभिव्यक्ति सहज और प्रभावपूर्ण होती है।" उत्तर भारतीय गायन पद्धति की भाँति इसमें भी गीत के शब्दों को लेकर अलग–अलग ढंग से, अलग–अलग भाव से इसका गायन होता है।

5. वर्णम् – दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति की रचनाओं में वर्णम् का प्रमुख स्थान है। कर्नाटक संगीत में रागस्वरूप निर्धारण में इसका ज्ञान आवश्यक है। डॉ0 सुभद्रा चौधरी के अनुसार– "वर्णम् अभ्यास गान के वर्ग में आना वाला प्रमुख प्रकार है जिसकी रचना लगभग 300 वर्ष पूर्व हुई।" इसके अभ्यास में परिश्रम से साथ सावधानी भी महत्वपूर्ण हैं। कर्नाटक संगीत में गायक व वादक के लिए वर्णम् की शिक्षा अनिवार्य मानी गई है। रागस्वरूप के निर्धारण व स्पष्टीकरण हेतु हर राग को स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी वर्ण में रचने के कारण इसको वर्णम् नाम दिया गया। सभागान और वादन में सर्वप्रथम वर्णम् ही गाया या बजाया जाता है।

वर्णम् के दो भाग हैं– 1. पूर्वांग 2. उत्तरांग। पूर्वांग के अन्तर्गत पल्लवि, अनुपल्लवि और मुक्तयिस्वर (सरगम अंश) आते हैं तथा उत्तरांग में चरणम् और एत्तुगडस्वरम् (सरगम अंश) आते हैं। वर्णम् के उपरोक्त भाग बराबर लम्बाई के होते हैं। वर्णम् में स्वर का स्थान प्रमुख व साहित्य गौण रहता है। इसमें

भक्ति, श्रृंगार व आश्रयदाता का वर्णन सम्बन्धित विषय की प्रधानता होती है। डॉ0 सुभद्रा चौधरी की पुस्तक भारतीय संगीत की निबद्ध के अनुसार– "इसकी रचना करने लिए मँजी हुई बुद्धि, योग्यता, प्रतिभा और रागलक्षणों में गहरी पैठ जरूरी है। इसलिए वर्णम् के रचयिता और वर्णम् गिने चुने हैं जबकि कृति व कीर्तन हजारों की संख्या में है और उनके रचयिता भी सैकड़ों हुए।" इसके रचयिताओं में व्यंकटमुखी, सुब्बरामदीक्षित, वीणाकुप्पययर, कुलशेखर, पट्टणंसुब्रह्मणययर तथा आयंगार का नाम प्रमुख हैं।

वर्णम् के 4 प्रकार माने गए हैं– चोक वर्णम्, पदवर्णम्, ध्रुव वर्णम् व तान वर्णम्। चोक वर्णम् में पल्लवी, अनुपल्लवी व चिट्टे स्वर होते हैं। इसके सभी स्वरों के लिए साहित्य होता है। इसके साहित्य में श्रृंगार व भक्ति रस प्रधान होता है। पद वर्णम् चोक वर्णम् के समान ही होता है पर इसमें स्वर साहित्य वाले चिट्टे स्वरों की अधिकता होती है। यह विलम्बित लय में गाया जाता है। कभी–कभी पद वर्णम् में मृदंग के बोल का भी प्रयोग होता है। इन बोलों को 'चोल्लुकेट्टु' कहते हैं। इसमें झपताल तथा अठताल का प्रयोग किया जाता है। इसमें पदों से रचना होती है तथा यह नृत्य के साथ गाया जाता है। ध्रुव वर्णम् में स्वर, साहित्य, जाति, राग, ताल तथा रस ये छः अंग होते हैं। तान वर्णम् में पल्लवी व अनुपल्लवी चरण होते हैं। मुख्यतः यह मध्य लय में गाया जाता है। इसमें स्वरों की प्रधानता रहती है तथा यह स्वतन्त्र रूप से गाया जाता है।

6. जावली – यह दक्षिण के 'जावल' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है श्रृंगारमयगीत। यह आधुनिक गीत का प्रकार है। इसका इतिहास 100–200 वर्ष पूर्व से मिलता है। यह उत्तर भारत की गायन शैली ठुमरी से मिलती जुलती है। जावली मुख्यतः श्रृंगार रस प्रधान होती है। इसका विषय मुख्यतः नायक व नायिका के प्रेम सम्बन्धों पर आधारित रहता है। जावली में भी अन्य रचनाओं की भाँति पल्लवी, अनुपल्लवी तथा चरणम् अंग होते हैं। ठुमरी की भाँति इसमें भी राग के नियमों का पूर्णरूप से पालन नहीं किया जाता। इसकी मुख्य विशेषता इसका स्वर वैचित्र्य है। यह मुख्यतः मध्य व द्रुत लय में गायी जाती है। यह मुख्यतः परज, खमाज, काफी, विहाग, झिंझोटी आदि रागों में गायी जाती है तथा इसके साथ प्रायः आदि, रूपक, चापु आदि तालों का प्रयोग किया जाता है। इसके रचनाकारों में स्वातितिरूनाल, पट्टणम् सुब्रह्मण्यम, श्रीनिवास अय्यंगार आदि का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है।

7. तिल्लाना – दक्षिण भारतीय संगीत की प्रमुख गायन शैलियों में तिल्लाना का अपना अलग स्थान है। यह उत्तर भारतीय संगीत के तराना के समकक्ष है। डा0 शरतचन्द्र श्रीधर परांजपे के अनुसार– "उत्तर भारतीय संगीत पद्धति के तराना नामक गीत का स्वरूप दक्षिणात्य संगीत का 'तिल्लाना' है।" इसका प्रयोग दक्षिण भारतीय संगीत में नृत्य के साथ भी किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से तों, तनन, न, दे, धिन् जैसे निरर्थक अक्षर, सोलकट्टु अर्थात् पाटाक्षर (तरिकिट) और स्वर तथा चरणम् में पद रहता है। तिल्लाना में पल्लवी, अनुपल्लवी तथा चरणम् आदि भाग होते हैं। यह मुख्यतः मध्य व द्रुत लय में गायी जाती है। तिल्लाना को प्रायः प्रदर्शन के अन्त में गाया जाता है। विद्वानों के अनुसार प्राचीनकाल में इस प्रकार की गायकी को 'स्तोभ' कहा जाता था। लय प्रधान गायकी होने के कारण इसमें ताल व लय का स्थान प्रमुख होता है। ठुमरी के समान इसके बोलों का भी कोई विशेष अर्थ नहीं होता, परन्तु इसको ओंकार की ध्वनि के समान माना जाता है। तिल्लाना में भाव पक्ष की अपेक्षा कला पक्ष को अधिक महत्व दिया जाता है। इसके प्रमुख कलाकारों में रामनाथपुरम्, श्रीनिवास अयंगार, तिरूनाल आदि का नाम आता है। यह माना जाता है कि इसकी रचना 18वीं सदी के वाग्गेयकारों द्वारा की गई।

8. रागमालिका – ऐसी रचना जिसमें भिन्न–भिन्न प्रकृति के रागों का मिश्रण हो तो रागमालिका कहते हैं। यह एक लम्बी रचना है जिसे भिन्न–भिन्न रागों में अलग–अलग खडों में गाया जाता है। इसमें एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि समान स्वरों के रागों को पास ना रखा जाये। रागमालिका में प्रयुक्त ताल शुरू से लेकर अन्त तक एक ही रहता है। इसके रचयिताओं को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह किन किन रागों का चुनाव करें व उनका क्रम क्या रखा जाए। इसमें भी पल्लवि, अनुपल्लवि व चरणम् होते हैं। विद्वानों का मानना है कि इसकी पल्लवि और अन्तिम चरणम् किसी प्रसिद्ध राग में निबद्ध हो तथा ऐसे राग से शुरूआत हो जिसमें गायन समय की कोई बाध्यता ना हो। एक राग व दूसरे राग के बीच में सरगम का प्रयोग किया जाता है, जो दोनों रागों को जोड़ने का कार्य करती है। प्रायः देखा जाता है कि इसका साहित्य भक्ति रस प्रधान होता है। तुलसीदास देवांगन की पुस्तक भारतीय संगीत शास्त्र के अनुसार– "श्री स्वातितिरूनाल की शंकराभरणम् राग और रूपक ताल से प्रारम्भ होने वाली रागमालिका 'पत्रगेन्द्रशयन' व 'देशावतार' आदि बहुत ही प्रसिद्ध रचनाएं हैं। प्रथम 'पत्रगेन्द्रशयन' रूपकतालीय रचना में शंकराभरण, कोबोजी, नीलाम्बरी, भैरवी, तोड़ी, सुरटी, नाथनामक्रिया तथा भुपालम् आदि रागों का प्रयोग किया जाता है।"

3.7 दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति के प्रमुख वाद्य

प्राचीनकाल में उत्तर व दक्षिण संगीत पद्धतियों में वाद्य एक समान ही थे किन्तु बाद में अलग वातावरण विभिन्न गायन शैलियों व वाद्यों के विकास के साथ–साथ इनमें भी परिवर्तन होने लगे, इस कारण कुछ नए वाद्य भी अस्तित्व में आए। आज दोनों पद्धतियों में वाद्यों, उनकी बनावट व उनकी वादन शैलियों में काफी अन्तर आ गया है। जैसे 'भेरी' वाद्य का वर्णन दक्षिण व उत्तरी संगीत पद्धतियों के ग्रन्थों में मिलता है। तमिल साहित्य में वीणा को 'याज' संज्ञा प्रदान की गई है। दक्षिण पद्धति में कुछ वाद्य ऐसे हैं जिनका अपना पृथक एवं विशिष्ट स्थान हैः–

1. बेला वाद्य – दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति में बेला स्वतन्त्र व संगत वाद्य दोनों के रूप में प्रमुख स्थान रखता है। गायन में इसका विशेष प्रयोग आलाप करते समय व तान आदि क्रियाओं का अनुकरण करने में किया जाता है। विद्वानों के अनुसार इस प्रयोग में प्राचीन वादन प्रकार के तत्व, अनुगत व ओघ का प्रभाव दिखाई पड़ता है। पं0 शारंगदेव द्वारा रचित ग्रन्थ संगीतरत्नाकर के अनुसार – "जिसमें गीत के लय, ताल, विरामादि एवं राग की जाति, ग्रह, अंशादि को प्रकाशित करके गीत का वादन किया जाता है उसको 'तत्व'; गीत का थोड़ा अनुकरण करते हुए वादन करना 'अनुगत' और अन्त में स्वयं के चातुर्य से अन्य प्रकार का वादन करना 'ओघ' कहलाता है।"

2. दक्षिणात्य वीणा – वीणा का भी दक्षिण भारतीय संगीत में महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रयोग स्वतन्त्र वादन व संगत वाद्य दोनों रूप में किया जाता है। प्राचीन काल से ही वीणा का संगीत में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इसको तत् वाद्यों की जननी भी कहा गया है। यह उत्तर भारतीय व दक्षिण भारतीय पद्धति में समान वाद्य है किन्तु उत्तर भारतीय संगीत पद्धति में वीणा व इसका वादन प्रायः लुप्त सा हो गया है। दक्षिण भारतीय संगीत में अभी भी वीणा अत्यन्त लोकप्रिय व विकसित रूप में प्रचलित है। कर्नाटक पद्धति में इसके लोकप्रिय होने के कारण इसको समय के अनुसार लगातार विकसित किया जाना है। अशोक कुमार अपनी पुस्तक संगीत रत्नावली में लिखते हैं– "वीणा वादन के साथ मुख्य रूप से गायन का ही अनुकरण अर्थात् संगत की जाती है, परन्तु वाद्यगत वादन कुशलता एवं गत में प्रयुक्त स्वरात्मक गमकादि

क्रियाओं को वाद्य के माध्यम से परम्परागत निर्धारित हस्तसंचालन से अभिव्यक्त किये जाने से गान से भिन्न भी वीणा वादन की छवि स्थापित होती है।"

3. नागस्वरम् या तूर्य – कर्नाटक संगीत के वाद्यों में नागस्वरम या तूर्य का अपना स्थान है। देवालयों में, मांगलिक कार्यक्रमों में, उत्सव आदि अवसरों में इसका प्रयोग किया जाता है। यह उत्तर भारत के वाद्य शहनाई से मिलता है किन्तु आकार में यह उससे बड़ा होता है। यह 'आच्चा' लकड़ी का बना होता है जिसकी लम्बाई लगभग डेढ़ हाथ की होती है। इसमें सात स्वरों के रन्ध्र होते हैं जो चौथाई उंगल व्यास के बनते हैं। आठवां रन्ध्र, सातवें के नीचे कुछ दूरी पर होता है जिसका प्रयोग वायु संचार के लिए किया जाता है। सातवें और आठवें रन्ध्र के नीचे दोनों तरफ दो रन्ध्र होते हैं। फूँकने का उपकरण 'शिवाली' कहलाता है। शिवाली उभरा हुआ एवं खुलने तथा बन्द करने योग्य छोटी नाल जैसा होता है। इसका आधार भाग शलाका जैसा है जिसे वाद्य के मुँह में लगाकर बजाया जाता है। मुख्य नागस्वरम् के अलावा एक अन्य नागस्वरम् का प्रयोग स्वर देने के लिए किया जाता है।

4. मृदंगम् – यह कर्नाटकी संगीत का प्रमुख ताल वाद्य है। यह उत्तर भारत के मृदंग या पखावज वाद्य के समान ही है किन्तु इसमें कुछ अन्तर भी है। मृदंगम् आकार में उत्तर भारतीय मृदंग से कुछ छोटा होता है, तथा लम्बाई में भी कुछ छोटा होता है। मृदंगम् में पूडी का का चमड़ा उत्तर भारतीय पखावज की अपेक्षा मोटा होता है। उत्तर भारत मृदंग की किनार का चमड़ा एक इंच व्यास का रखा जाता है, जबकि दक्षिण भारतीय मृदंगम् में किनारे का यह चमड़ा स्याही के स्थान को छोड़कर पूडी का समस्त स्थान घेरता है। इस तरह मृदंगम् में चाँट और स्याही के भाग दिखाई देते है जबकि पखावज में पूडी, चाँट, लव तथा स्याही इन तीनों भागों में दिखाई देती है। मृदंग का वाम पार्श्व मृदंगम् की अपेक्षा बड़ा होता है। मृदंगम् की चाँट का चमड़ा पूडी के मुख्य चमड़े को ढके रहता है अतः मृदंग की गूँज, मृदंगम् से अलग है। मृदंगम् में मध्यमा अँगुली के समान गट्टों का प्रयोग किया जाता है। मृदंगम् के बोलों में भी मृदंग की अपेक्षा भिन्नता पाई जाती है तथा इनकी निकासी के लिए हाथ रखने के ढंग में भी भिन्नता है। मृदंगम् में हाथ रखने का ढंग, तबला तथा ढोलक में हाथ रखने के ढंग का मिला–जुला रूप है।

3.8 दक्षिण भारतीय ताल पद्धति

भारत के दक्षिणी हिस्से में प्रचलित ताल पद्धति को कर्नाटक या दक्षिण ताल पद्धति के नाम से जाना जाता है। इसे 35 तालों की पद्धति भी कहा जाता है। कर्नाटक ताल पद्धति में सात (7) मुख्य ताल हैं। के0 वासुदेव शास्त्री के अनुसार "दक्षिण में पुनरूजीवित संप्रदाय के अर्न्तगत 'सालगसूड' प्रबन्ध में प्रयुक्त सात ताल – ध्रुवा, मठ्य, झम्पा, अठ, त्रिपुट, रूपक और एक ताल प्रयोग में हैं। संगीत के क्रियात्मक पक्ष में तालों की अपर्याप्यता को देखते हुए इन तालों में व्यवहारित अंगों को दुगुना, चौगुना, पंचगुना, छःगुना और नौगुना करके इन सात तालों से ही पैंतीस (35) तालों का निर्माण किया गया है।" दक्षिण भारत में मुख्य रूप से 3 ताल वर्गीकरण पद्धतियाँ प्रचलित रही – 1. प्राचीन अष्टोरशत् तालम् 2. अपूर्व तालम् तथा 3. सप्त तालम्। दक्षिण भारतीय ताल पद्धतियों में वर्तमान में 'सप्ततालम्' पद्धति सबसे अधिक प्रचलित है। माना जाता है कि 16वीं शताब्दी में दक्षिण संगीत के पितामह पुरंदर दास ने इसका प्रचार–प्रसार, अपनी रचनाओं में इनका प्रयोग कर शुरू किया। बाद में मद्रांचल, रामदास, क्षेत्रैया, त्यागराज आदि विद्वानों ने अपनी रचनाओं में इनका खूब प्रयोग कर इस पद्धति को प्रसिद्ध किया। सप्त तालम् की तालों का विवरण निम्न है:–

क्रम	ताल	विभाग	विभाग की मात्रा संख्या	मात्रा	चिन्ह
1.	ध्रुव	4	4,2,4,4	14	। 0 ।।
2.	मठ	3	4,2,4	10	। 0 ।
3.	रूपक	2	2,4 / 4,2	6	0 । / ।0
4.	झंप	3	4,1,2	7	। 0
5.	त्रिपुट	3	4,2,2	8	। 0 0
6.	अठ	4	4,4,2,2	12	।। 0 0
7.	एक	1	4	4	।

नोट – उपरोक्त तालिका की तालों में लघु (।) की मात्रा 4 मानी गई है।

दक्षिण भारतीय ताल पद्धति में सप्त तालों का विस्तार लघु के आधार पर होता है। लघु का कर्नाटक ताल पद्धति में विशेष महत्व है। लघु का मान बदलने पर हर ताल के पाँच रूप बनते हैं और इस प्रकार 7 तालों से 35 तालों का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो ताल की जाति लघु के मान पर निर्भर करती है। 5 जातियों – तिस्त्र, चतस्त्र, खण्ड, मिश्र और संकीर्ण में लघु का मान 3, 4, 5, 7 और 9 होता है और इस प्रकार प्रत्येक ताल के जाति के आधार पर 5 रूप होंगे। प्राचीन काल में लघु 1 मात्रा का माना जाता था। उदाहरण के लिए जैसे ध्रुव ताल का रूप – ।0।। है। ध्रुव ताल के पाँच रूप निम्न तालिका से समझे जा सकते हैं।

	तिस्त्र	चतस्त्र	खण्ड	मिश्र	संकीर्ण
(।0।।)	3,2,3,3	4,2,4,4	5,2,5,5	7,2,7,7	9,2,9,9
मात्रा	11	14	17	23	29

विशेष ध्यान देने वाली बात यह है के ताल के अर्न्तगत सभी लघुओं की जाति बदलने पर ताल में लघु की जाति बदलेगी और इस स्थिति में यह आवश्यक होता है कि उस ताल के जाति का उल्लेख किया जाए। अगर जाति का उल्लेख ना किया हो तो उसे चतस्त्र जाति का माना जाता है।

प्रयोग की दृष्टि से सभी 35 ताल प्रचलित नहीं है। इनमें से कुछ ही प्रयोग में हैं। इन 35 तालों के पाँच–पाँच गति भेद भी होते हैं। इस प्रकार कुल 175 (35X5=175) तालों का निर्माण हुआ। पी0 साम्बममूर्ति के अनुसार– "लघु के 5 भेद और होते हैं। इनके माप क्रमशः 6, 8, 10, 12 और 16 मात्राओं के होते हैं और इन भेदों के नाम क्रमानुसार दिव्यलघु, सिंघ लघु, वर्ण लघु एवं कर्नाटक लघु हैं। इन पाँच प्रकारों के लघु के आधार पर 35 भेद और बनते हैं। इन 35+35=70 तालों के गतिभेदों के पाँच प्रकारों के आधार पर 70X5=350 ताल संभव है।"

कर्नाटक ताल पद्धति की विशेषता है कि इसका ताल वर्गीकरण उत्तर पद्धति की तुलना में अधिक वैज्ञानिक है। दक्षिण ताल पद्धति में अंग का बहुत महत्व है। अंग 6 प्रकार के हैं। तालों के स्वरूप को प्रकट करने व ताल लिखने या प्रदर्शित करने के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। जो काम उत्तर भारतीय ताल पद्धति में विभागों का है वही दक्षिण में अंगों का। 6 अंग निम्न हैः–

क्रम	नाम	मात्रा	चिन्ह
1	अणुद्रुत	1	ु
2	द्रुत	2	0
3	लघु	4	।
4	गुरू	8	ऽ या 8
5	प्लुत	12	3 या 8।
6	काकपद	16	+

उत्तर भारतीय तालों को दक्षिण ताल पद्धति में लिखना – उत्तर भारतीय तालों को कर्नाटक ताल पद्धति में लिखने के दो मत प्रचलित हैं। एक मतानुसार उत्तर भारतीय तालों में ताली और खाली दोनों के विभाग होते हैं अतः उतने ही विभाग दर्शाये जाने चाहिये। दूसरे मतानुसार कर्नाटक ताल पद्धति में खाली का कोई विभाग नहीं होता है। यहाँ खाली के लिए विसर्जितम् का प्रयोग किया जाता है। अतः उत्तर की तालों में खाली के विभाग को उससे पहले, ताली वाले विभाग के साथ जोड़ दिया जाता है। उदाहरण के लिए तीनताल को लेते हैं। इसमें चार विभाग होते हैं। पहला, दूसरा व चौथा ताली का व तीसरा खाली का। तीनताल को दक्षिण भारतीय ताल पद्धति में निम्न तरीके से दर्शायेंगे।

तीनताल – ऽ।।
इसी प्रकार झपताल – 0ॅ।
इसी प्रकार धमारताल – ।ॅ।।

अगर दक्षिण भारतीय तालों को उत्तर भारतीय ताल पद्धति के अनुसार लिखना हो तो निम्न प्रकार से लिखेंगेः–

उदाहरण के लिए चतस्त्र जाति की झंप में 7 मात्रा व इसका स्वरूप – । ŏ

इसे उत्तर भारतीय पद्धति में निम्न प्रकार से लिखेंगेः–

1	2	3	4	5	6	7
x				2		3

3.9 दक्षिण भारतीय संगीत की हिन्दुस्तानी(उत्तर भारतीय) संगीत से तुलना

दक्षिण भारतीय व उत्तर भारतीय संगीत पद्धतियों की समानतायें :–

1. दोनों पद्धतियों में एक सप्तक के अन्तर्गत 22 श्रुतियों और 12 शुद्ध और विकृत स्वरों होते हैं। स्वर स्थानों में भी लगभग समानता है।
2. दक्षिण संगीत पद्धति में मेलराग वर्गीकरण प्रचलित है तथा उत्तर भारत में थाट–राग वर्गीकरण। मेल व थाट दोनों शब्दों का मतलब एक है। दोनों पद्धतियों में थाट/मेल को जनक तथा राग को जन्य माना गया है। थाट राग वर्गीकरण का श्रेय पं0 भातखंडे जी को तथा मेल राग वर्गीकरण का श्रेय पं0 व्यंकटमुखी को जाता है।
3. दोनों पद्धतियों में राग के दस लक्षण मान्य हैं जिनके आधार पर राग का स्वरूप निर्धारित होता है।
4. दोनों पद्धतियों की कुछ तालें भी समान है। जैसे उत्तर भारत की चारताल व एकताल, दक्षिण की चतस्त्र जाति की अठ ताल के समकक्ष है।
5. दोनों पद्धतियों में विभाग की प्रथम मात्रा पर ताली देने का प्रावधान है।
6. दोनों पद्धतियों में कुछ राग भी समान हैं, जैसे हंसध्वनि, चारूकेशी नारायणी, आभोगी, किरवाणी, कलावती आदि, खमाज व विहाग दक्षिण में उत्तर भारत के समान ही गाए जाते हैं। हिंडौल राग उत्तर के मालकौंस के समकक्ष है।
7. दोनों पद्धतियों की कुछ गायन शैलियों में भी समानता पाई जाती है। जैसे तराना–तिल्लाना, ठुमरी–जावलि, ख्याल–वर्णम् आदि।

दक्षिण भारतीय व उत्तर भारतीय संगीत पद्धतियों की विभिन्नतायें :–

1. दक्षिण संगीत पद्धति में स्वर के निम्नतम रूप को शुद्ध तथा उत्तर में कोमल कहते हैं।
2. दक्षिण में स्वर के कम्पन पर तथा उत्तर में स्वर की स्थिरता पर विशेष ध्यान दिया जाता है।
3. स्वर की महत्ता के बावजूद भी उत्तर में स्वर की मधुरता पर तथा दक्षिण में गायक की विद्वता पर अधिक ध्यान दिया जाता है।
4. दक्षिण में स्वर उच्चारण रि, गीशु इस प्रकार से किया जाता है। जबकि उत्तर स्वर उच्चारण में रे, ग इस प्रकार से किया जाता है।
5. दक्षिण में एक ही स्वर को दो नामों से भी जाना जाता है, जैसे चतुःश्रुति ऋषभ, साधारण गांधार, चतुःश्रुति धैवत और कौशिक निषाद को क्रमशः शुद्ध गान्धार, षट्श्रुति ऋषभ, शुद्ध निषाद और षट्श्रुति धैवत जैसे अन्य नामों से भी जाना जाता है। उत्तर में स्वरों के दो नाम नहीं होते हैं।
6. दक्षिण में बन्दिशों में परिवर्तन नहीं किया जाता है। बंदिश की मौलिकता पर विशेष बल दिया जाता है। उत्तर में रचनाओं में इतना बंधन नहीं है। गायक रचना में परिवर्तन कर सकता है।
7. दक्षिण में संगीतकार को अपनी कला का प्रदर्शन करने का पूर्ण अवसर मिलता है। गायक बीच–बीच में ताल वाद्य (मृदंग) वादक को अपनी योग्यता दिखाने का अवसर प्रदान करता है। उत्तर में इस तरह की परम्परा देखने को नहीं मिलती, यहाँ तबला संगति गायन को अधिक खूबसूरत बनाने के लिए की जाती है। तबला वादक को अपनी कला प्रदर्शित करने का पूर्ण अवसर नहीं मिल पाता। यहाँ अपनी कला प्रदर्शित करने कि लिए स्वतन्त्र वादन की परम्परा है।

8. उत्तर में बड़े ख्याल व छोटे ख्याल में रचना (साहित्य) एक से दो पंक्तियों का होता है तथा गायक उसी पर अधिक समय तक राग–विस्तार करता रहता है। दक्षिण की कृतियों में पल्लवि, अनुपल्लवि तथा चरणम् होते हैं तथा इनमें उत्तर की अपेक्षा साहित्य अधिक रहता है।

9. एक मतानुसार कर्नाटक संगीत में विलम्बित लय नहीं होती। रचनाएं प्रायः मध्य व द्रुत लय में होती हैं।

10. उत्तर में 10 थाट माने गए हैं तथा दक्षिण में 72 मेल माने गए हैं।

11. उत्तर में एक ही थाट के अन्तर्गत एक ही स्वर के दो रूपों का एक साथ प्रयोग मान्य नहीं है जबकि दक्षिण में इसको मान्यता है।

12. कर्नाटक व हिन्दुस्तानी ताल पद्धति की तुलना निम्न तालिका में है :–

कर्नाटक ताल पद्धति	हिन्दुस्तानी ताल पद्धति
1. तालों की संख्या सीमित है। मुख्य 7 ताल प्रचलित हैं।	1. तालों की संख्या असीमित है जिसका मुख्य कारण नये–नये तालों का निर्माण है।
2. इस पद्धति में जाति के आधार पर एक ही ताल के विभिन्न रूप पाये जाते हैं। जैसे ध्रुव ताल की तिस्त्र जाति में 11 मात्रा, चतस्त्र जाति में 14, खण्ड जाति में 17, मिश्र जाति में 23 व संकीर्ण में 29 मात्रायें होती हैं।	2. हिन्दुस्तानी ताल पद्धति में तालों की मात्रायें निश्चित होती हैं। इसमें जाति के आधार पर तालों के विभिन्न रूप नहीं पाये जाते हैं। कुछ तालों में अपवाद स्वरूप मात्राओं की संख्या पर विभन्न मत हैं।
3. ताल की प्रथम मात्रा पर ताली दर्शाने को आघात किया जाता है, जिसे 'घात' कहते है।	3. इस पद्धति में ताल की प्रथम मात्रा को दर्शाने के लिए ताली का प्रयोग करते है जिसे 'सम' कहते हैं।
4. इस पद्धति में खाली का कोई स्थान नहीं है, खाली के स्थान पर विसर्जितम् का प्रयोग किया जाता है। इसके तीन प्रकार है– पताकम्, कृषय तथा सर्पिनी	4. इसमें ताली व खाली दोनों का प्रयोग होता है तथा खाली का कोई प्रकार नहीं होता है।
5. ताल के बोलों को दर्शाने के लिए चिन्हों का प्रयोग किया जाता है तथा जितने चिन्ह होंगे उतने विभाग माने जायेंगे।	5. इसमें प्रत्येक विभाग में मात्रायें निर्धारित हैं तथा सम, ताली व खाली के चिन्ह होते हैं।
6. ताल के स्वरूप को दर्शाने के लिए अंगों का प्रयोग किया जाता है। अंग के छः प्रकार हैं – अणुद्रुत, द्रुत, लघु, गुरू, प्लुत और काकपद।	6. ताल के स्वरूप को दर्शाने के लिए अंगों का प्रयोग नहीं होता है। इसमें विभागों का विशेष महत्व है।
7. इसमें संगति ताल वाद्य के रूप में मृदंग का प्रयोग होता है।	7. इस पद्धति में तबला मुख्य ताल वाद्य है।

अभ्यास प्रश्न

क) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :–

1. भारत में संगीत की ..... प्रणालियाँ प्रचलित हैं।
2. दक्षिण भारतीय संगीत में स्वरों का ..... रूप नहीं मिलता है।
3. उत्तर भारतीय पद्धति के शुद्ध निषाद को दक्षिण भारतीय संगीत में ..... नाम से जाना जाता है।
4. दक्षिण भारतीय संगीत के अन्तर गंधार को उत्तर भारतीय पद्धति में ..... नाम से जाना जाता है।
5. उत्तर भारतीय पद्धति का भैरव थाट दक्षिण के ..... मेल के समकक्ष है।
6. दक्षिण भारतीय संगीत का कामवर्धिनी मेल उत्तर भारतीय पद्धति के ..... थाट के समकक्ष है।
7. उत्तर भारत का ..... राग, दक्षिण के हिंडोल के समान है।
8. जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' ..... शैली में रचित है।
9. दक्षिण भारतीय संगीत की ..... गायन शैली, उत्तर भारत की ठुमरी से मिलती जुलती है।
10. उत्तर भारतीय संगीत का तराना, दक्षिण भारतीय संगीत के ..... के समकक्ष है।
11. कर्नाटक ताल पद्धति में ..... मुख्य ताल हैं।
12. दक्षिण भारतीय संगीत में ..... को पितामह की उपाधि प्राप्त है।
13. दक्षिण भारतीय संगीत में ..... जातियॉ मानी गई हैं।
14. अंग के ..... प्रकार होते हैं।
15. दक्षिण भारतीय संगीत में खाली के लिए ..... का प्रयोग किया जाता है।

3.10 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप दक्षिण भारतीय संगीत व इसके विभिन्न पहलुओं से परिचित हो चुके होंगे। दक्षिण भारतीय संगीत, उत्तर भारतीय संगीत की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। प्राचीनकाल में एक ही पद्धति पूरे भारतवर्ष में प्रचलित थी। किन्तु मुसलमानों के आगमन के पश्चात विभिन्न कारणों के परिणामस्वरूप दो पद्धतियॉ(दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति व उत्तर भारतीय संगीत पद्धति) अस्तित्व में आई। दक्षिण भारत मुसलमानों के आक्रमण से बचा रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति अपने शुद्ध रूप में स्थापित रही। दक्षिण भारतीय संगीत व उत्तर भारतीय संगीत के स्वर, थाट, रचनाओं, ताल पद्धति आदि के विषय में कुछ समानताएं व कुछ विषमताएं भी हैं जिन्हें आप इस इकाई के अध्ययन के पश्चात जान चुके होंगे।

3.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :–

1. दो(कर्नाटकी और हिन्दुस्तानी)
2. कोमल
3. काकलि निषाद
4. शुद्ध गांधार
5. मायामालवगौड
6. पूर्वी
7. मालकौंस
8. पदम्

9. जावली
10. तिल्लाना
11. सात (7)
12. पुरंदर दास
13. 5(तिस्त्र, चतस्त्र, खण्ड, मिश्र और संकीर्ण)
14. 6
15. विसर्जितम्

3.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौधरी, डॉ0 सुभद्रा, भारतीय संगीत में निबद्ध, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली।
2. चौधरी, डॉ0 सुभद्रा(व्याख्या एवं अनुवादकर्त्री), संगीत रत्नाकर, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली।
3. परांजपे, डॉ0 शरतचन्द्र श्रीधर, संगीत बोध।
4. देवांगन, तुलसीराम, भारतीय संगीत शास्त्र।
5. शास्त्री, के0 वासुदेव, संगीत शास्त्र।
6. सेन, डॉ0 अरूण कुमार, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन।
7. चक्रवर्ती, डॉ0 इन्द्राणी, संगीत मंजूषा।
8. जौहरी, सीमा, संगीतायन, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली।
9. कुमार, अशोक, संगीत रत्नावली, अभिषेक पब्लिकेशन, चण्डीगढ।
10. Sambmurti, P., South Indian Music.

3.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति की व्याख्या कीजिए।

इकाई 4 – शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 संगीत
4.4 शास्त्रीय संगीत
4.5 लोक संगीत
4.6 शास्त्रीय संगीत तथा लोक संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध
4.7 शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत में अन्तर
4.8 सारांश
4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई प्रदर्शन कला–संगीत में स्नातकोत्तर, चतुर्थ सेमेस्टर (एम0पी0ए0एम0–605) पाठ्यक्रम की चतुर्थ इकाई है। इससे पूर्व की इकाई में आप दक्षिण भारतीय संगीत के विषय में भी जान गये हैं।

इस इकाई में आप शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत के विषय में जानेंगे। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध तथा अन्तर को भी इस इकाई के माध्यम से जानेंगे।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत के भेद को भली–भाँति समझ सकेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपः–

- शास्त्रीय संगीत को भली भाँति समझ सकेंगे।
- लोक संगीत के विषय में जानेंगे।
- शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत के परस्पर सम्बन्ध को समझेंगे।
- शास्त्रीय तथा लोक संगीत के अन्तर को समझेंगे।

4.3 संगीत

स्वर एवं लय संगीत के आधारभूत तत्व हैं। स्वर की उत्त्पत्ति ध्वनि तथा नाद से हुई है। संगीतोपयोगी नाद ही स्वर कहलाता है। लय पूरे ब्रह्मांण्ड को सुरक्षित रक्खे रहती है। हृदय गति का समान गति से चलना, नाड़ी का समान अन्तराल सभी लय के उदाहरण हैं। इन्हीं अन्तरालों में अनियमितता आने पर शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं अतः लय मानव जीवन का अभिन्न अंग हैं एवं इसको सुव्यवस्थित रखना भी आवश्यक है। दो के घर्षण तथा आघात से प्राप्त कम्पन्न संख्याओं का अन्तराल जब समान रहता है तो इस प्रकार से उत्पन्न लयात्मक धवनि को नाद स्वर कहा जाता है, जिसका उपयोग संगीत में किया जाता है। कम्पन संख्या के अन्तरालों में अनियमितता होने पर ध्वनि संगीतोपयोगी नहीं रहती है जिसको हम शोर कहते हैं। पशु, पक्षियों, झरनों, नदियों एवं प्रकृति से प्राप्त विभिन्न ध्वनियों से विभिन्न स्वरों की कल्पना की गई तथा इन स्वरों के विभिन्न लय के प्रयोग से भिन्न–2 प्रकार का संगीत प्राप्त किया जाता है। स्वर–लय का सुन्दर संयोजन ही संगीत है। संगीत को प्रकृति से प्राप्त किया गया तथा इसके समाज के विभिन्न वर्गों के द्वारा प्रयोग में आाने पर संगीत की विभिन्न धाराएँ प्राप्त हुई, लोक संगीत भी ऐसी एक धारा है।

संगीत की प्रभावोत्पादक क्षमता सर्वविदित है। वह न केवल विद्या है वरन एक महाशक्ति है। मन मस्तिष्क की परितृप्पि के अनेकानेक दृश्य–अदृश्य साधन है पर भावनाओं की तृप्ति संगीत के माध्यम से होती है। प्राचीनकाल में संगीत के बल पर प्राकृतिक शक्तियों को भी मनचाही दिशाओं में तोड़ा–मरोड़ा जाना सम्भव था वह नाद ब्रहम की साधना थी, वरन मनोरंजन का माध्यम नहीं। जब तक यह साधना का विषय रहा तब तक न केवल उसका प्रभाव मनुष्य पर देखा गया, वरन पशुओं को मुग्ध करने, साँपों का शमन करने, पागल जंगली हाथियों को वश में करने से लेकर फूल खिला देने, पत्थर पिघला देने, वर्षा देने जैसे असम्भव कार्य तक सम्पन्न कर सकना सम्भव था। मधुर स्वर लहरियों का प्रत्यक्ष प्रभाव आज भी देखा तथा अनुभव किया जा सकता है। संगीत की पहुँच अन्तःकरण के मर्मस्थल तक है। मनुष्य तो क्या पशु–पक्षी भी संगीत की मुधर ध्वनि पर थिरकने लगते हैं एवं उस प्रभाव से प्रकृति प्रदत्त स्वभाव के विपरीत आचरण करते देखे जाते हैं। संगीत प्रेमी

''कार्लाइल'' ने यहाँ तक कहा है कि संगीत के पीछे–पीछे खुदा चलता है और जहाँ पर स्वयं भगवान होगा वहाँ कैसे कोई रोग शोक टिक सकते हैं। साधारण रूप से संगीत का सूक्ष्म प्रभाव मन के बारीख तन्तुओं एवं सुकोमल भावनाओं पर पड़ता है तथा शरीर की समस्त जैविक क्रिया पद्धति इन्हीं भावनाओं के तारों से जुड़कर संचालित व नियमित होती है। संगीत के स्वरों का सीधा सम्बन्ध मानवीय कार्यों में उपस्थित सात चक्रों से होता है। संगीत के आधारभूत सात स्वर **सा, रे, ग, म, प, ध, नि** हैं। स्वरों का आरोह– अवरोह इन्हीं चक्रों के क्रम में होता है। सामान्यतः हृदय, कंठ तथा मूर्द्धन्य से नाद की उत्त्पत्ति होती है, इसी कारण संगीत को हृदय की वाणी के रूप में जाना जाता है। संगीत आदिकाल से ही मनुष्य के साथ जुड़ा हुआ है तथा इसकी स्वस्थ परम्परा ही मानवी क्षमताओं के विकास में सहायक है।

4.4 शास्त्रीय संगीत

वेदों के रचयिता ब्रह्मा जी से संगीत की उत्त्पत्ति हुई। ब्रह्मा जी ने इसे शिव को दिया, शिव ने इसे देवी सरस्वती को तथा इनके द्वारा इसका ज्ञान नारद जी को प्राप्त हुआ। इन्होंने इसकी शिक्षा गंधर्व, किन्नर एवं अप्सराओं को दी। एक अन्य मत के अनुसार नारद जी की वर्षों की योग साधना के पश्चात् नारद को संगीत की शिक्षा शिवजी से प्राप्त हुई। ''शिव प्रदोष'' में भी इसी धारणा का समर्थन है। इस संगीत को भरत ने महादेव के सम्मुख प्रस्तुत किया जो कि मुक्तिदायक था, मार्गी संगीत कहलाया। इसके समानान्तर लोक–रचनार्थ जिस संगीत को पृथ्वी पर प्रयोग किया गया , देशी संगीत कहलाया। संगीत सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सदैव महत्वपूर्ण रहा है। इसके ज्ञान का सर्वप्रथम संदर्भ सामवेद से प्राप्त होता है। साम गान से संगीत की उत्त्पत्ति मानी जाती है। वेदों के पश्चात् लिखे गये विभिन्न पुराणों में रामायण एवं महाभारत काल में भी संगीत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। देशी संगीत से वर्तमान में प्रचलित शास्त्रीय संगीत तथा लोक संगीत की दो विधाएँ प्राप्त हुई। शास्त्रीय संगीत का प्रयोग वर्ग विशेष द्वारा एवं लोक संगीत जन सामान्य में प्रचलित रहा। शास्त्रीय संगीत में भावाभिव्यक्ति संगीत के शास्त्र के आधार पर स्वर एवं लय के माध्यम से की जाती है। साधारणतायाः शास्त्रीय संगीत उसे कहते हैं जो शास्त्र नियमों के अनुसार प्रस्तुत किया जाए। शास्त्रीय संगीत में स्वर एवं लय का प्रयोग शास्त्र के आधार पर किया जाता है। शास्त्रीय संगीत मार्गी संगीत की श्रेणी में आता है। संगीत के अनेक मूर्धन्य शास्त्रकारों अथवा विद्वानों के मतानुसार लोक संगीत, शास्त्रीय संगीत का बीज रूप है। शास्त्रीय संगीत मनुष्य द्वारा निर्मित सिद्धान्तों की बंदिश में रहता है। शास्त्रीय संगीत (गायन, वादन व नृत्य) शास्त्र पर आधारित है। जिस देश अथवा जाति का संवेदनशील मानव जिस समय अपने हृदय के भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए उन्मुख हुआ, उसी अवसर पर स्वयं स्वर–लय उसके मुख से उत्पन्न हुए, उन्हीं स्वर, गीत और लय को नियमबद्ध कर उनका जो शास्त्रीय विधान किया गया वही संगीत शास्त्रीय संगीत है। शास्त्रीय संगीत में शब्द केवल खूंटी का काम करते हैं। एक ही शब्द को लेकर स्वरों के माध्यम से भावों को अभिव्यक्त किया जाता है। स्वरों के लिए ही शब्द बनते हैं। स्वर ही प्रधान होते हैं। राग की परिधि में स्वर तथा उसका विस्तार शास्त्रीय संगीत का आधार है।

शास्त्रीय संगीत चमत्कार प्रधान होता है। शास्त्रीय संगीत का जन्म मुख्यतः हृदय एवं बुद्धि के समन्वयात्मक प्रयत्नों से होता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत की रचना या उसकी विशुद्धता तथा विविधता संगीत घरानों की सुघड़ परम्परा की ओर संकेत करती है। यह मनुष्य द्वारा निर्मित सिद्धान्तों की बंदिश में रहता है। शास्त्रीय संगीत में अपेक्षाकृत क्लिष्टता रहती है। इसको शास्त्र के नियमों में बँधा रहना होता है। इसमें स्वर – लय, ताल आदि को समझने के लिए अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। शास्त्रीय संगीत का साहित्यिक पक्ष कम होता है। इसमें जहाँ एक ओर साज

आवश्यक होते हैं वही दूसरी ओर इसकी सुनने वाले श्रोता भी ऐसे होने चाहिए जिन्हें शास्त्रीय संगीत का ज्ञान हो एवं वह उसको समझ सकें।

संगीत की विभिन्न विधाएँ हैं:–

1. **शास्त्रीय संगीत** – इस विधा में पूर्णरूप से शास्त्र के नियमों का पालन किया जाता है। इसके अन्तर्गत ख्याल गायन, ध्रुपद, धमार आदि गायन शैलियाँ आती हैं।
2. **उपशास्त्रीय संगीत –** इसमें शास्त्र के नियमों का पूर्ण रूप से पालन नहीं रहता है वरन इसमें स्वरों का मिश्र स्वरूप रहता है। इसके अन्तर्गत ठुमरी, दादरा आदि गायन शैलियाँ आती हैं।
3. **सुगम संगीत –** यह शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय दोनों से भिन्न रहता है। इसमें रागों की बंदिश नहीं रहती है। इसके अन्तर्गत भज़न, ग़ज़ल, गीत आदि गाये जाते हैं। यह पूर्णतः भाव प्रधान संगीत है।
4. **लोक संगीत –** लोक संगीत सामान्य जनता की आन्तरिक भावनाओं का प्रतीक है तथा देश की संस्कृति का उदाहरण है। इस संगीत को सहज भाव में श्रुत परम्परा के अनुसार सीखा जाता है। इस संगीत में किसी बौद्धिक स्तर के प्रयोग नहीं होते। इसमें सामाजिक स्थिति एवं धार्मिक मान्यताएँ विशेष रूप से दिखती है। इसमें गायन, वादन तथा नृत्य तीनों का समावेश होता है। मनुष्य जब अपने मन के भावों को व्यक्त करने के लिए संगीत का सहारा लेता है तो वह लोक संगीत कहलाता है।

संगीत के तीन विधाएं गायन, वादन, एवं नृत्य हैं जिसमें शास्त्रीय संगीत की शैली का प्रयोग किया जाता है।

गायन में शास्त्रीय संगीत – गायन संगीत की परम्परा में जाति गायन एवं राग गायन की परम्परा प्राप्त होती है। राग को गायन के माध्यम से प्रस्तुत करना शास्त्रीय गायन कहलाता है। शास्त्रीय गायन शैली के अन्तर्गत प्रबंध गायन, ध्रुपद–धमार गायन शैली और ख्याल गायन शैली आती हैं। वर्तमान में ध्रुपद–धमार गायन शैली एवं ख्याल शैली ही प्रचलन में है, प्राचीन प्रबंध गायन शैली लुप्त हो चुकी है। ध्रुपद– धमार गायन शैली में पदों को पखावज में बजने वाली ताल जैसे– चारताल, सूलताल, तीव्रा, धमार आदि में निबद्ध कर राग की अवतारणा की जाती है। ध्रुपद– धमार गायन शैली में गायन चार चरण– स्थाई, अन्तरा, संचारी, आभोग में किया जाता है। इस गायन शैली में स्वर–शब्दों के साथ लय एवं विशिष्ट लयकारियों के प्रयोग से गायन चमत्कारिक एवं आकर्षक बनता है। शास्त्रीय गायन की अन्य शैली ख्याल गायन में विलम्बित, मध्य एवं द्रुतलय की रचनाओं के माध्यम से राग गायन प्रस्तुत किया जाता है। विलम्बित लय की रचना जिसको सामान्य भाषा में बड़ा ख्याल कहा जाता है, आलाप अंग मुख्य रहता है। ख्याल गायन में आलाप, बोल आलाप, तान एवं बोलतान का प्रयोग आवश्यक रूप से किया जाता है। मध्यलय की रचना जिसको साधारण भाषा में छोटा ख्याल कहा जाता है, इसमें बोलतान एवं द्रुततान की तानों का प्रयोग कर रचना को खूबसूरती के साथ प्रस्तुत किया जाता है।

गायन की उपशास्त्रीय विधा में ठुमरी एवं दादरा आते हैं। उपशास्त्रीय संगीत में रागों के कठोर नियमों का पालन शास्त्रीय संगीत की भाँति वांछित नहीं होता, जिस प्रकार रागों के नियमों का पालन शास्त्रीय संगीत में किया जाता है। इस विधा में शुद्ध आलाप एवं तानों का प्रयोग नहीं किया जाता है बल्कि बोल आलाप के माध्यम से रचना के वांछित भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। उपशास्त्रीय संगीत पूर्णतः भाव प्रधान है।

शास्त्रीय वादन – वाद्यों की चार श्रेणी मानी गई हैं– तंत्रवाद्य, सुषिरवाद्य, अवनद्य वाद्य व घन वाद्य। तंत्र वाद्य वीणा एवं उसके प्रकारों पर ध्रुपद गायन शैली का ही प्रयोग किया जाता है। सितार वाद्य की उत्पत्ति के पश्चात् एक नवीन वादन शैली का भी निर्माण हुआ जिसको गतकारी बाज कहा गया। दिल्ली के उस्ताद मसीत खाँ के द्वारा मिजराब के निश्चित बोलों के साथ विलम्बित लय में रचना की गई जिसको विलिम्बित गत कहा गया, जो कि मसीतखानी गत के नाम से प्रसिद्ध है। पूरब के उस्ताद रजा खाँ के द्वारा तंत्र पर बजाने के लिए मिजराब के निश्चित बोलों के साथ मध्यलय एवं द्रुतलय में बजाने के लिए गत का निर्माण किया जो कि रजाखानी गत के नाम से प्रसिद्ध हुई। शास्त्रीय संगीत की मान्यता के अनुसार तंत्र वाद्य के वादन के आरम्भ में गतकारी बाज के अन्तर्गत आलाप, जोड़ एवं जोड़ झाला अनिबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसके पश्चात मसीतखानी गत जिसको विभिन्न लय के तोड़ो (तान) के द्वारा सजाया जाता है प्रस्तुत करते हैं। मसीतखानी गत के पश्चात रजाखानी गत प्रस्तुत की जाती है इसमें भी लय के अनुसार तोड़े अथवा तान प्रस्तुत की जाती है। रजाखानी गत प्रस्तुत करने के पश्चात द्रुतलय में बाज एवं चिकारी के तार की सहायता से द्रुत गति में झाला बजाकर वादन का समापन किया जाता है। तंत्र वाद्य के अन्तर्गत आने वाले गज वाद्यों पर गतकारी का प्रयोग तथा ख्याल गायन शैली दोनों का ही प्रयोग किया जाता है। सुषिर वाद्य में मुख्य रूप से गायन शैली का ही प्रयोग होता है। शास्त्रीय संगीत में गायन तथा वादन की संगति पखावज अथवा तबले पर की जाती है जिसमें पखावज अथवा तबला वादक शास्त्रीय गायन एवं वादन के कार्यक्रम को सफल बनाने हेतु गायक अथवा वादक की इच्छानुसार वादन करता है। तबला अथवा पखावज में संगीत के अतिरिक्त एकल या स्वतंत्र वादन भी शास्त्रीय संगीत की मान्यता के अन्तर्गत आता है।

शास्त्रीय नृत्य –नृत्य में उत्तर भारत का नृत्य ''कत्थक'' नृत्य शास्त्रीय नृत्य की श्रेणी में आता है जिसमें पदचाप एवं आंगिक अभिनय को नृत्य की रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। दक्षिण भारत का भरतनाट्यम, कथकली एवं मोहिनीअट्टम, उड़ीसा क्षेत्र का ओडिसी, उत्तर पूर्व क्षेत्र मणिपुर का मणिपुरी नृत्य आदि शास्त्रीय की श्रेणी में आते हैं। इन नृत्यों की अपनी अलग–अलग विशेषताएँ होती है।

4.5 लोक संगीत

मानव सभ्यता से पूर्व आदिम जातियाँ अपने भावों को गले की ध्वनि एवं आस–पास प्राप्त साधनो से ध्वनि के माध्यम से व्यक्त करते थे। हर्ष एवं उल्लास के क्षणों में अलग तथा अवसाद शोक के समय ध्वनि का प्रकार अलग रहता था। हर्ष एवं उल्लास के समय में उछलना–कूदना एवं गम्भीर अवस्था में शांत भाव में रहना मानव की प्राकृतिक प्रकृति रही है। सभ्यता विकास के साथ यही उछलना कूदना नृत्य का रूप बना तथा ध्वनि के विभिन्न प्रकारों ने स्वर का रूप लिया। लय प्रकृति में व्याप्त है। लय का सम्बन्ध भी सीधे तौर पर भावाभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। हर्ष के समय मध्य तथा द्रुतलय तथा शांत भाव में विलम्बित लय का होना भी स्वाभाविक है। ध्वनि के विभिन्न प्रकार एवं लय के प्रकार ने संगीत को जन्म दिया। आदि मानव का परिचय केवल ध्वनि से ही था। सभ्यता के विकास से जब भाषा का ज्ञान हुआ तो अभिव्यक्ति के लिए स्वर के साथ शब्द भी जुड़ गये और इस प्रकार गीत की रचना होने लगी। भावों की अभिव्यक्ति में उछल –कूद के साथ अंग संचालन भी रहता था। इसी उछल–कूद ने नृत्य को जन्म दिया इस प्रकार गीत एवं नृत्य का जन्म हुआ। ये गीत एवं नृत्य आदिवासी समाज में प्रचलित हुए तथा बाद में इनका स्वरूप लोक गीत एवं लोक नृत्य का हो गया । इन लोक गीतों की पृष्ठ भूमि पूर्णतया स्थानीय तथा क्षेत्रीय होती है। अतः स्थानीय मान्यताओं के आधार पर ही इनका जन्म होता है।

लोक संगीत वह संगीत है जिसने जनमानस में स्वतः उन्मुक्त तथा स्वच्छन्द वातावरण में जन्म लिया। यह जनसाधारण की आन्तरिक की आन्तरिक भावनाओं का प्रतीक है। यह देश की संस्कृति का जीता–जागता उदाहरण है। किसी भी देश की सांस्कृतिक उन्नति का पता इस देश के लोक संगीत को देखकर चलता है। इसको सहज संगीत भी कहा जाता है। इसे सीखने के लिए किसी विशेष शिक्षा–दीक्षा अभ्यास या साधना की आवश्यकता नहीं होती है। आनन्द, उल्लास, विषाद के अतिरिक्त में जनसाधारण जब स्वर एंव लय के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति करता है तो वह लोक संगीत कहलाता है। लोक संगीत की भाषा सरल, धुनें सहज तथा हृदय को छूने वाली होती है। इस संगीत को पढ़ा नहीं जा सकता है वरन पीढ़ी दर पीढी श्रुत परम्परा द्वारा ही सुरक्षित किया गया है। किसी प्रकार के बौद्धिक स्तर के प्रयोग इस संगीत में नहीं किये गये, इस प्रकार का संगीत लोक संगीत कहलाया। लोक संगीत क्षेत्र विशेष की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों का दर्शन कराता है। यह समाज के विभिन्न वर्गों के दिन प्रतिदिन की गतिविधियों का, उनके हर्ष और विषाद का चित्रण करता है। लोक संगीत में सामाजिक स्थिति एवं धार्मिक मान्यताएँ विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इसमें गायन, वादन एवं नृत्य तीनों का समावेश होता है। इन तीनों का ही सम्मिलित प्रयोग लोक संगीत में देखा गया है। लय वाद्यों का प्रयोग इसमें मुख्य रूप से होता है। ग्रामीण अंचलों में भाषा और सभ्यता के विकास के साथ लोक संगीत भी वह संगीत में आये विराम– ताल, शास्त्र अथवा किसी अलंकारिक विशिष्ट से अनभिज्ञ होता है ये सब अनजाने रूप में ही उसमें आ जाते हैं। लोक में प्रचलित व लोक द्वारा निर्मित गीत ही लोक संगीत है। दैनिक क्रिया, व्यापार, हल चलाना, चक्की पीसना, शादी ब्याह, उत्सव, त्यौहार, वर्षा, बसंत तथा ऋतु आदि लोक गीतों के उद्‌गत स्थल हैं।

प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने मन के भावों को गाकर अथवा नाचकर अभिव्यक्त करता आया है। वह अपने सुख–दुख तथा जीवन की अनेक घटनाओं को संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। मनुष्य जब अपने हृदय के भावों को व्यक्त करने के लिए संगीत का सहारा लेता है तो वह लोक संगीत कहलाता है। इसका प्रचार आदिकाल से दुनियाँ के हर क्षेत्र में रहा है। भारतवर्ष में लोक संगीत का प्रचार प्राचीन समय से ही प्राप्त होता है। वैदिक काल में विवाह जन्म के अनेक शुभ अवसरों पर गाया जाने वाला संगीत, लोक संगीत ही था। यह हर काल में रहा और निरन्तर उन्नत होता गया। लोक संगीत सामान्य लोगों की देन है। लोक संगीत में ऐसा कोई नियम नहीं होता जो कि भावाभिव्यक्ति में बाधा डाले। इसमें कोई शास्त्र या छन्द आदि नियमों का बन्धन नहीं होता है। हर क्षेत्र का अपना लोक संगीत होता है तथा प्रत्येक क्षेत्र के लोक संगीत का मूल सिद्धान्त एक ही है, भावों की अभिव्यक्ति एवं आनन्द की प्राप्ति। अलग–अलग क्षेत्रों के लोक संगीत में यदि अन्तर है तो वह ये कि किसी लोक संगीत में एक तरह के वाक्य प्रयुक्त होते हैं तो कहीं दूसरी तरह के, क्योंकि हर क्षेत्र की अपनी–अपनी बोली है। अतः लोक संगीत के गीत भी वहीं की बोलियों में होते हैं। लोक संगीत मुख्य रूप से सामूहिक संगीत है। सामूहिक संगीत के लिए यह आवश्यक है कि रचना में सहजता हो। लोक संगीत के प्रमुख तत्व स्वर, भाषा, लय एवं ताल हैं। इन्हीं के मिश्रण से लोक संगीत बनता है अपने भावों को प्रकट करने के लिए अलग–अलग रूप से इनका सहारा लिया जाता है। खुशी, उल्लास के अवसर पर चंचल तालें तथा करूण, विषाद आदि के समय लय कम तथा तालें गम्भीर प्रकृति की होती हैं। गीतों की भाषा लोक संगीत में परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। लोक संगीत का संकुचित अर्थ लेकर केवल उन्हीं लोगों के हर्ष, विषाद का भान करवाता है जो नागरिक संस्कृति और तकनीकि शिक्षा से मुख्यतः परे हैं, निरक्षर हैं अथवा मामूली अक्षर ज्ञान रखने वाले ग्रामीण हैं। गीत परम्परा की एक धारा जब अपनी घरेलू भाषा में लोक वाणी को प्रवाहित करने लगी तो उसे लोक संगीत के नाम से जाना जाने लगा। मानव हृदय में अपने आप उमड़कर संगीत में प्रकट होने वाली भाव धारा को हम आदिम तथा आधुनिक, सभ्य और असभ्य, ग्राम एवं

नगर आदि विभेदों में रखकर विचार नहीं कर सकते। लोक गीत केवल आदिम जातियों की वस्तु नहीं, आधुनिक विश्व के जनमानस में भी गीतों के रूप में अनन्त भाव धाराओं की अभिव्यक्ति होती रहती है। लोक संगीत मानव की सभ्यता तथा संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं। लोक संगीत का कोई एक जनक नहीं होता है अर्थात वह पता नहीं चलता कि इस अमुक शैली का जन्मदाता कौन है। यह देश की संस्कृति का रक्षक होता है एवं मानव जीवन के सुख–दुख की कहानी को बताता है। इसमें लालित्य कम तथा सौन्दर्य आधिक होता है। सभी रसों की निष्पत्ति लोक संगीत में होती है। लोक संगीत मुख्य रूप से ग्रामीण परिवेश का संगीत है और इसका विकास भी ग्रामीण क्षेत्रों में ही होता है। यद्यपि आजकल टेलीविजन के माध्यम सं विभिन्न प्रकार का संगीत भी ग्रामीण क्षेत्र में पहुँच चुका है परन्तु अभी भी ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पर आधुनिक तकनीकि का प्रचार नहीं हुआ है। इन्हीं क्षेत्रों में पारम्परिक लोक संगीत विशुद्ध रूप में विद्यमान है। लोक संगीत में स्थानीय संस्कृति एवं मान्यताओं की झलक पाई जाती है। इसी कारण प्रत्येक क्षेत्र का अपना लोक संगीत होता है। लोक संगीत मेले, उत्सव, विवाह, मांगलिक कार्य आदि का मुख्य अंग होता है। कोई भी धार्मिक अनुष्ठान भी लोक संगीत के बिना सम्पन्न नहीं होता है। लोक संगीत में लोक गीत गायन एवं लोक वाद्य वादन, लोक नृत्य स्वतंत्र एवं सम्मिलित रूप से होता है। लोक कवियों द्वारा स्थानीय परिवेश जैसे– प्रकृति वर्णन, स्थानीय घटनाएँ तथा स्थानीय समस्याओं पर रचना कर तथा इनको संगीत बद्ध कर लोक गायन प्रस्तुत करते हैं। लोक कवि ही लोक गायक भी होते हैं। इस परम्परा में लोक गीत समयानुसार लोक कवियों द्वारा नये लोक गीतों का निर्माण होता रहता है जिसको यह मेले एवं उत्सवों में प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक क्षेत्र का एक पारस्पारिक लोक संगीत होता है जिसको परिवतर्तित नहीं किया जाता वरन पुरानी परम्पराओं के आधार पर ही प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के पारस्परिक लोक संगीत के अन्तर्गत नृत्य, संस्कार गीत, देवी–देवताओं के गीत, विरह गीत तथा लोक वाद्यों का वादन आता है। लोक संगीत मुख्यतः लय, ताल पर आधारित होता है परन्तु फिर भी संस्कार गीत एवं विरह गीत बिना किसी लय–ताल वाद्य के प्रस्तुत किये जाते हैं। नृत्य, गीत के साथ तथा स्वतंत्र रूप से भी लोक शैली में पाया जाता है। लोक अवनद्य वाद्यों को प्रयोग वैसे तो लोग गीत एवं नृत्य की संगति में ही किया जाता है परन्तु हिमालय क्षेत्र में लोक अवनद्य वाद्य ढोल का प्रयोग स्वतंत्र वादन के रूप में भी पाया जाता है। इस प्रकार लोक संगीत, लोक गीत, लोक नृत्य एवं लोक वाद्यों के वादन के रूप में रहता है।

4.6 शास्त्रीय संगीत तथा लोक संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध

लोक संगीत शास्त्रीय संगीत का अविकसित रूप नहीं है और न शास्त्रीय संगीत ही लोक संगीत का विकसित रूप है। दोनों ही स्वरूप एक साथ अंकुरित एवं विकसित होते हैं और दोनों ही एक दूसरे से प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। साधारण रूप में लोक–संगीत, संगीत का लोक पक्ष है एवं शास्त्रीय संगीत उसका वह पक्ष है जो व्यक्ति विशेष की प्रतिभा के अनुसार विशिष्ट शास्त्र में बँध गया है। इसमें एक विशेष बात यह है कि लोक संगीत कभी भी शास्त्रीय पक्ष को प्राप्त नहीं करता और न शास्त्रीय संगीत ही लोक पक्ष को प्राप्त होता है। शास्त्रीय संगीत को सुगम कर देने से तथा उसे तान, पल्टे, मुरकियां तथा स्वर सम्बन्धी रचनात्मक पेंचीदगियाँ हटाकर गा लेने से वह लोक–संगीत नहीं बन जाता और न लोक संगीत को ताल, स्वर तथा ताल पल्टों की पेचीदगियों में बाँध लेने से ही उसको शास्त्रीय संगीत बनाया जा सकता है। संगीत के यह दोनों पक्ष अनादिकाल से एक दूसरे के समकक्ष चलते आये हैं और एक दूसरे से प्रेरणा लेते रहे हैं। वैदिक कालीन संगीत को सुनने से यह प्रतीत हो सकता है कि उस समय लोक संगीत तथा शास्त्रीय संगीत में कोई भेद नहीं था। भेद तो तब हुआ जब समाज के सांस्कृतिक तथा समाजिक स्तरों में भेद होने लगा। जनमानस ने संगीत की एक पद्धति अपनाई और संगीत के विशिष्ट प्रेमियों ने दूसरी शैली को

अपनाया। शास्त्रीय संगीत बुद्धि जीवियों, विद्वानों एवं विशिष्ट सामाजिक स्तर के लोगों का है तथा लोक संगीत अशिक्षित, असंस्कृत और निर्धन वर्ग के लोगों की धरोहर है लेकिन इस कथन को सत्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि आज से कई वर्ष पूर्व उत्तर भारत के अनेक शास्त्रीय संगीतकार अशिक्षित थे।

शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत एक वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। संगीत के इन दोनों प्रकारों की विकास दिशाएँ स्वतंत्र है तथा दोनों ही प्रौढ़ संगीत शैलियों के दो विकसित स्वरूप है। शास्त्रीय संगीत के प्रेरणा स्त्रोत व्यक्ति एवं शास्त्र है एवं शास्त्र के नियमों में बँधा हुआ शास्त्रीय संगीत स्वतंत्रता पूर्वक विचरने का अधिकरी नहीं है। लोक संगीत का प्रेरणा स्त्रोत जन मानस है। उसका विकास क्षेत्र अधिक विकसित है। शास्त्रीय संगीत के प्रयोग और परीक्षण ज्ञान के लिए शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता है और विशिष्ट अभ्यास क्रम से गुजरने की आवश्यकता है। परन्तु लोक संगीत के प्रयोग के लिए किसी अभ्यास तथा ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। शास्त्रीय संगीत वैयक्तिक साधना का प्रतीक है तथा लोक संगीत सामुदायिक साधना का। शास्त्रीय संगीत ने लोक संगीत से जो प्राप्त किया है वह कल्पनातीत है। अनादिकाल से भारत में संगीत शास्त्रों की चर्चा है। संगीत रचनाएँ जब प्रौढ़ता को प्राप्त होती है तभी उन पर शास्त्र बनते हैं। पहले रचनाएँ होती है उनमें अनके वाद–विवाद, प्रकार–उपप्रकार, क्रिया–प्रतिक्रियाएँ चलती हैं तब शास्त्रों का आधार लिया जाता है। प्रारम्भ में शास्त्र सरल, सुगम तथा संक्षिप्त होता है बाद में रचनाक्रम के विस्तार के साथ वह भी पेंचीदा होने लगता है। अनेक नियम–उपनियम, धारा–उपधाराओं की सृष्टि होती है।

प्रारम्भिक संगीत शास्त्र की कल्पना 'सामवेद' की ऋचाओं से की जा सकती है। सामवेद में राग– रागनियों की बारीकियों का समावेश नहीं है। उसके बाद के सभी शास्त्र क्लिष्ट होते गये हैं। भरत का 'नाट्यशास्त्र'' जो कि पंचम वेद के नाम से प्रचलित हुआ, सामवेद में अधिक कठिन है। उसके बाद रचे हुए ''संगीत रत्नाकर'' आदि शास्त्रीय ग्रन्थ जटिलतम बनते गये। प्रारम्भिक शास्त्रों में रचना तथा शास्त्र दोनों ही समकक्ष तथा समानान्तर हो गये हैं। कभी–कभी तो रचना स्वयं शास्त्र बन गई है और शास्त्र रचना बन गए। यही कारण है कि उस समय के साहित्य, संगीत तथा नाट्य के शास्त्र अलग–अलग नहीं थे वरन एक ही शास्त्र सबके लिए प्रयुक्त होता था। उनके अलग–अलग अस्तित्व की कल्पना कठिन थी। परन्तु धीरे–धीरे उनका यह सामंजस्य कम होता गया और संगीत का अपना अलग शास्त्र अस्तित्व में आया। उससे लोक एवं शास्त्रीय कक्ष अलग हो गये। ऐसी स्थिति में शास्त्रीय संगीत को लोक संगीत से बहुत कुछ सीखना था। पहले जब दोनों का संयुक्त अस्तित्व था तब उनके राग स्वभवतः रचयिता के भावों के साथ घुले मिले थे। उस समय जो गीत जनता में प्रचलित थे वे सरल तथा भावात्मक रूप से संचरित होते थे। वह उत्सव, समारोह, हर्ष, उल्लास के समय सामुदायिक रूप में गाये जाते थे। धार्मिक पर्वों, पूजाओं तथा यज्ञों में विशिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार ध्वनि तथा श्वास के उतार–चढ़ाव के साथ जो गीत गाये जाते थे, वह विशिष्ट प्रकार के गीत थे। उनकी गान विधि विशिष्ट नियमों में बँधी थी। संगीत के यह दो प्रारम्भिक भेद थे। प्रथम शैली के संगीत में स्वतंत्र तथा सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में मानव की उन्मुक्त भावनाएँ स्वरों और शब्दों के रूप में सामने आयी। उस समय ये दोनों ही पक्ष स्पष्ट थे। जिनमें से बाद में एक लोक संगीत के रूप में तथा दूसरी शास्त्रीय संगीत के रूप में विकसित हुए। यह क्रम सैकड़ो वर्षों तक चलता रहा। शास्त्रीय संगीत का शास्त्र पक्ष संगीत के विकास और प्रचलन के साथ प्रबल होता गया तथा लोक संगीत से उसे शाश्वत प्रेरणा मिलती रही।

दूसरी ओर लोक संगीत भी मनुष्य की भावनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में जनमानस में आता गया तथा उसके सतत प्रयोग से निर्दिष्ट एवं सुव्यवस्थित स्वर धारा के रूप में प्रस्फुटित हुआ। जानकारों ने इन स्वर रचनाओं का विश्लेषण किया। अनेक गीतों के परीक्षण से उन्हें स्वाभाविक स्वर रचनाओं के ऐसे अनके सार्थक चयनों का पता लगा जो विशिष्ट भावनात्मक स्थितियों में मुनष्य की

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर जुड़ते मिलते हैं। उन्हें विशेष रागों की संज्ञा दी गई और यह निश्चित किया गया कि अलग–अलग स्वरों के चयन से एक विशेष प्रकार की धुन का जन्म होता है। इन्हीं धुनों का नामकरण किया गया और उनका एक विशेष शास्त्र धीरे–धीरे विकसित हुआ। लोक गीतों के स्वर चयन में शास्त्रोक्त राग निर्धारण न पहले ही था और न आज ही है। उनमें केवल रागों का आभास मात्र रहता है। उसी आभास के आधार पर शास्त्रीय संगीत का विस्तार पक्ष सक्रिय होता है। जिस तरह शास्त्रीय संगीत का प्रेरक लोक संगीत है उसी तरह लोक संगीत का प्रेरक शास्त्रीय संगीत है। शास्त्रीय संगीत का प्रेरक शास्त्रीय संगीत नहीं है। शास्त्रीय संगीत यदि लोक संगीत की ओर अभिमुख होता है तो उसकी प्रियता बढ़ती है। उसका भाव पक्ष रसमय एवं सजीव बनता है। परन्तु यदि लोक संगीत शास्त्रीय संगीत की ओर झुकता है तो शास्त्र के बोझ से वह अपने गुणों को खो बैठता है। यह स्थिति तब आती है जब शास्त्रीय संगीतकार लोक गीतों का प्रयोग करने लगता है और शास्त्रीय शैली में गाकर उसका स्वरूप बदल देता है। यह प्रवृत्ति आज सर्वत्र देखने को मिलती है। विशेषकर राजस्थान में, जहाँ लोक गीत गाने वाली अनके व्यवसायिक जातियाँ बन गई हैं जो उन्हें शास्त्रीय संगीत की ओर खींचती हैं। इस संयोग से जहाँ लोक संगीत की मूल प्रवृत्ति को क्षति पहुँचती है वहीं उससे कुछ अत्यन्त आकर्षक और मनोरम लोक शैलियों की उपलब्धि भी हुई है। उसमें राजस्थान की माँड़, महाराष्ट्र के पवाड़े तथा बंगाल के जात्रा गीत सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

अतः शास्त्रीय संगीत का बहुत कुछ आधार लोक संगीत है। शास्त्रीय संगीत इस प्रकार लोक से प्रेरणा ग्रहण कर लेता है लेकिन लोक गीतों के लिए शास्त्रीय संगीत का अनुकरण करना अपनी विशिष्टता, मौलिकता तथा लालित्य का खोना है। यह सत्य है कि वर्तमान समय में शास्त्रीय संगीत का प्रभाव लोक–संगीत पर भी पड़ने लगा है।

4.7 शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत में अन्तर

शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत एक दूसरे के साथ जुड़े हैं। दोनों में समय के अनुसार परिवर्तन होता रहता है फिर भी दोनों को रूप एक जैसा कभी नहीं होता है, दोनों में कुछ अन्तर पाये जाते हैं। लोक संगीत स्वतंत्र होता है इसमें किसी प्रकार के नियमों का बंधन नहीं होता है। जैसे शास्त्रीय संगीत में शास्त्र के नियमों का पालन करते हुए उसके वादी, सम्वादी लय आदि नियमों में बँधे रहना पड़ता है। परन्तु लोक संगीत में इस तरह के कोई नियमों का पालन नहीं करता होता है। शास्त्रीय संगीत बहुत परिश्रम से सीखा जाता है इसमें अत्यधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है किन्तु लोक संगीत व्यक्ति सुन कर ही आत्मसात कर लेता है। जहाँ चार व्यक्ति मिलते हैं लोक संगीत का अभिव्यक्ति स्वतः ही होने लगती है। इसमें किसी प्रकार के परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती है ये भाव के द्वारा स्वतः ही आने लगते हैं। वास्तव में इन दोनों संगीत की विधाएँ स्वर एवं लय के आधार पर ही खड़े रहती हैं। शास्त्रीय संगीत में स्वर की प्रधानता रहती है तो लोक संगीत में लय एवं ताल प्रधान रहते हैं। शास्त्रीय संगीत में राग विशुद्ध रूप से प्रस्तुत किये जाते हैं परन्तु लोक संगीत में राग शुद्धि का महत्व नहीं होता है। शास्त्रीय संगीत महान विद्वान संगीतकारों की विरासत है जिसे उन कलाकारों ने अपने अथक परिश्रम से संजोकर रखा है। यह घरानों के रूप में विकसित एवं प्रचरित होता है। किन्तु लोक संगीत आज भी सामूहिक रूप में अपनी–अपनी चौपालों, खेत खलियानों तथा गली–गलियारो में विद्यमान है। शास्त्रीय संगीत को 'मार्गी' संगीत एवं लोक संगीत को 'देशी' संगीत भी कहा जाता है। क्योंकि 'मार्गी' संगीत जनसाधारण का संगीत नहीं है, यह कठिन होता है और सभी लोग इसे आसानी से ग्रहण नहीं कर सकते। यह मोक्ष प्राप्ति का संगीत है। इसके अतिरिक्त जनरूचि के अनुसार जिस ह्रदय रंजक संगीत की अभिव्यक्ति हुई वह देशी संगीत के विकास के पीछे लोक संगीत विद्यमान रहा।

शास्त्रीय संगीत का साहित्यिक पक्ष लोक–संगीत की अपेक्षा कम है। ध्रुपद आदि संस्कृत, हिन्दी या एक दो अन्य भाषाओं में प्राप्त होते हैं परन्तु लोक संगीत के गीतों का साहित्य क्षेत्र विशेष के अनुसार अनेक बोलियों व भाषाओं में मिलता है। शास्त्रीय संगीत में उपकरण जैसे वाद्य, श्रोता, स्थान आदि का भी जो प्रतिबन्ध है, वह लोक संगीत में नहीं। शास्त्रीय संगीत को गाते बजाते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि राग किस समय गाया जाए सुबह, दिन, शाम, रात अलग–अलग प्रहर के लिए अलग अलग राग है, जिनको शास्त्रानुसार उसी समय गाया बजाया जाएगा। लेकिन लोक संगीत में गायक को किसी प्रकार बंधन नहीं रहता। जब चाहो अपने गीतों को प्रस्तुत कर सकते हैं। शास्त्रीय संगीत के लिए मुख्य रूप से तानपुरा, तबला, हारमोनियम आदि की आवश्यकता होती है परन्तु लोक संगीत वाद्य उपलब्ध ना होने पर भी गाया जा सकता है। अगर कहीं आवश्यकता हो तो हुड़के से ही गा लिया जाता है। लोक गीत रचयिताओं के पास शब्द सीमित किन्तु भाव अधिक रहते हैं जिनको व्यक्त करने के प्रयास में ऐसे अनेक निरर्थक शब्दों का प्रयोग उनकी रचनाओं में हुआ मिलता है जो शास्त्रीय संगीत के पदों में नहीं मिलता। लेकिन अलंकारों तथा मुहावरों के अनावश्यक बोझ से लदी भाषा लोक गीतों से नहीं मिलती। इसी प्रकार लोक गीतों की अपनी कई विशेषताएँ हैं जैसे पुनरावृत्ति, प्रश्नोत्तर प्रणाली, टेक आदि जिससे गीत को कंठस्थ एवं विस्तार करने में सुविधा होती है। भगवान की स्तुति, अर्चना, प्रकृति वर्णन, फाग आदि कुछ ऐसे विषय है जो शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त होते हैं। लोक संगीत में लोक जीवन की अनन्ताओं के दर्शन होते हैं। लोक संगीत में जुगलबन्दी भी रहती है तथा गायन को चरमोत्कर्ष करने का अपना एक विशेष ढ़ंग रहता है। शास्त्रीय संगीत में भी जुगलबन्दी होती है किन्तु मुख्यतः वह व्यक्ति प्रधान ही है।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि शास्त्रीय संगीत में कला पक्ष तथा लोक–संगीत में भाव पक्ष की प्रधानता रहती है। लोक संगीत के अधिक लोकप्रिय होने का सम्भवतः यही प्रधान कारण हो सकता है। नियमों की परिधि में बँधकर रंजकता प्रदान करने की सार्म्थय कठोर साधना के बाद ही गायक को प्राप्त होती है इसलिए शास्त्रीय संगीत सर्व गेय नहीं है। इसमें कलाकार अधिकतर रूढिवादी होते हैं जो किसी प्रकार का परिर्वतन उचित नहीं समझते। किन्तु लोक संगीत का हृदय इतना विशाल है कि वह किसी भी सरल एवं सुमधुर ध्वनि को आत्मसात करने से पीछे नहीं रहता है। लोक कला में हमको अपने उस सांस्कृतिक वैभव को देखने का अवसर मिलता है। जिसने हमारे देश को एकता के सूत्र में बाँधा है।

अभ्यास प्रश्न

क) लघु उत्तरीय प्रश्न :–

1. संगीत के दो आधारभूत तत्वों के नाम लिखिए।
2. संगीत की उत्त्पत्ति किसके द्वारा मानी जाती है।
3. संगीत की विभिन्न विधाओं का नाम लिखिए।
4. संगीत के तीन अंगों के नाम लिखिए।

4.8 सारांश

इस इकाई में आपने शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत का विस्तृत अध्ययन किया है जो कि दोनों ही संगीत की शाखाएँ हैं। इस इकाई में संगीत की भी व्याख्या की गई है जिससे आप संगीत के विषय में भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। शास्त्रीय संगीत तथा लोक संगीत के परस्पर सम्बन्ध एवं इनके अन्तर को भी इस इकाई में विस्तारपूर्वक समझाया गया है जिससे आप इन दोनों को भली–भाँति समझ चुके होंगे।

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क) लघु उत्तरीय प्रश्न :–

1. स्वर और लय।
2. ब्रह्मा जी द्वारा।
3. शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत, लोक संगीत।
4. गायन, वादन व नृत्य।

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाण्डे, डॉ0 बद्रीदत्त, कुमाऊँ का इतिहास।
2. तिवारी, डॉ0 ज्योति, कुमाउँनी लोक–गीत तथा संगीत शास्त्रीय परिवेश।
3. गर्ग, लक्ष्मी नारायण'बसंत', संगीत विशारद, संगीत कार्यालय, हाथरस।
4. नौटियाल, डॉ0 शिवानन्द, उत्तराखण्ड की लोकगाथाएँ।
5. पेटशाली, जुगल किशोर, उत्तरॉचल के लोक वाद्य।

4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संगीत की व्याख्या कीजिए।
2. शास्त्रीय संगीत को समझाइये।
3. लोक संगीत को समझाइये।
4. शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत के परस्पर सम्बन्ध को समझाइये।
5. शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत की परस्पर तुलना कीजिए।

इकाई 5 – उत्तराखण्ड का लोक संगीत

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 उत्तराखण्ड का लोक संगीत
5.4 कुमाऊँ का लोक संगीत
5.4.1 देवी–देवताओं का संगीत
5.4.2 गाथा गायन
5.4.3 मेले उत्सवों का संगीत
5.4.4 झोड़ा
5.4.5 चाँचरी
5.4.6 छपेली
5.4.7 न्यौली
5.4.8 बैर
5.4.9 भगनौल
5.4.10 छोलिया
5.4.11 जोड़
5.4.12 संस्कार गीत
5.4.13 कृषि गीत
5.4.14 ऋृतु गीत
5.4.15 होली संगीत
5.4.15.1खड़ी होली
5.4.15.2महिला बैठकी होली
5.4.15.3बैठ होली(पुरूष)
5.4.16 संवाद गीत
5.4.17 अनुष्ठानिक गीत
5.5 गढ़वाल का लोक संगीत
5.5.1 मांगल गीत
5.5.2 बांद गीत
5.5.3 देवी– देवताओं के गीत
5.5.4 झुमैलो गीत
5.5.5 छोपती गीत
5.5.6 लामण गीत
5.5.7 पवाड़ा गीत
5.5.8 खुदेड़ गीत
5.5.9 बासन्ती गीत
5.5.10 बारहमासी गीत

5.5.11 नौन्याली गीत
5.5.12 होली गीत
5.5.13 लोरी गीत
5.6 उत्तराखण्ड के प्रमुख लोक वाद्य
5.6.1 ढ़ोल
5.6.2 हुड़का
5.6.3 रणसिंगा
5.6.4 मसकबीन
5.6.5 ढ़ोलक
5.6.6 बिणै(बिणई)
5.7 सारांश
5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई प्रदर्शन कला–संगीत में स्नातकोत्तर, चतुर्थ सेमेस्टर (एम0पी0ए0एम0–605) पाठ्यक्रम की पंचम इकाई है। इससे पहले की इकाई के अध्ययन में आपने शास्त्रीय–संगीत और लोक संगीत के भेद को भली भाँति समझा है।

इस इकाई में उत्तराखण्ड के लोक संगीत का परिचय प्रस्तुत है। उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक परम्परा जैसे लोक गीत, लोक नृत्य, संस्कार गीत आदि के बारे में इस इकाई में बताया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप उत्तराखण्ड के कुमाऊँ एवं गढ़वाल क्षेत्र के पारस्परिक लोक संगीत की विधाओं के विषय में जान सकेंगे।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :–

1. उत्तराखण्ड के गढ़वाल तथा कुमाऊँ क्षेत्र के लोग संगीत के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
2. लोक संगीत के माध्यम से इस क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्परा को भी समझेंगे।
3. विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले लोक गीतों को भी समझेंगे।

5.3 उत्तराखण्ड का लोक संगीत

कुमाऊँ मंडल तथा गढ़वाल मंडल का सम्पूर्ण क्षेत्र उत्तराखण्ड के अन्तर्गत आता है। दोनों मंडल मध्य हिमालय के महत्वपूर्ण अंचल हैं जिनकी महत्ता वेद–पुराणों से मानी जाती है। इन दोनों में ही नगर एवं ग्रामीण क्षेत्र हैं। नगर क्षेत्र में पर्वतीय एवं मैदानी दोनों क्षेत्र हैं जबकि ग्रामीण क्षेत्र में केवल पर्वतीय क्षेत्र ही हैं। उत्तराखण्ड का लोक संगीत मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्र का संगीत है जो कि यहाँ की संस्कृति का अंग है। गढ़वाल और कुमाऊँ क्षेत्र के संगीत में यहाँ की स्थानीय संस्कृति तथा मान्यता की झलक पाई जाती है इसीलिए दोनों क्षेत्र के लोक संगीत थोड़ी भिन्नता लिये हुए है। दोनों क्षेत्रों के लोक संगीत का प्रयोग यहाँ के मेले, उत्सव तथा देवी–देवताओं को प्रसन्न करने

के लिए किया जाता है। इस विधा को दोनों ही क्षेत्रों में जागर शैली कहा जाता है। लोक संगीत मुख्यतः गीत, नृत्य का रूप लिये होता है। गीत नृत्य के अतिरिक्त भी यहाँ के लोक कवि स्थानीय परिवेश जैसे–प्रकृति वर्णन, स्थानीय घटनाएँ तथा स्थानीय समस्याओं पर रचनाएँ करते हैं तथा इनको संगीतबद्ध कर लोक गीत के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस लोक गीत का गायन बिना नृत्य के ही होता है, केवल नृत्य भी लोक संगीत का अंग होता है जिसमें किसी प्रकार का गीत नहीं होता। कुमाऊँ क्षेत्र का छोलिया नृत्य इसका उदाहरण है। संस्कार गीत के कई प्रकार ऐसे हैं जिनमें केवल गायन किया जाता है और इनके साथ किसी प्रकार के लय वाद्य का प्रयोग नहीं होता है। विरह गीत में केवल गायन ही होता है तथा इसमें भी किसी प्रकार के लय–वाद्य का प्रयोग नहीं होता है। कुमाऊँ क्षेत्र की 'न्यौली' इसका उदाहरण है।

उत्तराखण्ड के लोक संगीत का प्रमुख वाद्य 'ढोल' है। ढ़ोल वादन को स्वतंत्र वादन के रूप में भी उत्तराखण्ड के क्षेत्र में सुना जाता है। किसी भी नृत्य गीत से पहले ढ़ोल वादक ढ़ोल पर स्वतंत्र वादन प्रस्तुत करते हैं। विवाह के अवसर पर वर एवं कन्या पक्ष के ढ़ोल वादक के बीच वादन पर सवाल–जवाब भी किये जाते हैं। इस क्षेत्र में पाये जाने वाले अन्य अवनद्य वाद्य हुड़का, डौर का प्रयोग गीत के साथ लय–ताल प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। यहाँ के स्वर वाद्यों में मुख्य रूप से सुषिर वाद्य अलगोजा, बाँसुरी तथा मसकबीन है। किसी भी लोक कलाओं में अपनी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उत्तराखण्ड जहाँ अपनी प्राकृतिक सुन्दरता, वीरता तथा शौर्य के लिए जाना जाता है वहीं इसके पास लोक गीतों, नृत्यों, लोक गाथाओं तथा लोक कलाओं का अपार भण्डार है। सांस्कृतिक परम्परा देश की धरोहर होती है। सदियों से चले आ रहे हमारे रीति–रिवाजों, परम्पराओं और इनमें रचे–बसे लोक गीतों, नृत्यों के द्वारा हम अपने अतीत तथा वर्तमान को सार्थक रूप में जोड़ लेते हैं। इसमें अनगिनत मोतियाँ हैं, हमारी सांस्कृतिक विरासत है।

5.4 कुमाऊँ का लोक संगीत

इसके अन्तर्गत कई प्रकार के गीत आते हैं जिनका गायन भिन्न–भिन्न अवसरों पर किया जाता है। इनको कई वर्गों में बाँटा गया है जिनका विवरण निम्न है :–

5.4.1 देवी–देवताओं का संगीत – कुमाऊँनी समाज में देवी–देवताओं के प्रति अत्यधिक आस्था रहती है। पौराणिक देवी–देवताओं के अतिरिक्त यहाँ पर स्थानीय देवी–देवताओं की भी पूजा–अर्चना की जाती है। यह पूजा शिल्पकार वर्ण के वर्ग विशेष द्वारा संगीत के माध्यम से की जाती है। जिसको कुमाऊँ में जागर के स्वरूप में अथवा केवल गायन स्वरूप में गाया जाता है। इस क्षेत्र में यदि किसी के घर में कोई व्यक्ति बीमार हो जाता है तथा घर पर किसी प्रकार की कोई विपत्ति आती है तो यह मान्यता है कि उनके स्थानीय देवता उनसे रूष्ट हो गये हैं अर्थात देवता को जागृत एवं प्रसन्न कर उनको खुशी–खुशी विदा किया जाता है। जागर धार्मिक आस्था तथा मान्यताओं का प्रतीक है। कुमाऊँ क्षेत्र में जागर मुख्यतः हुड़का तथा थाली वाद्यों के द्वारा लगाई जाती है। इसमें प्रायः धूनी जलाई जाती है तथा इसके चारों ओर डंगरिया, जगरिया (देवताओं को जागृत करने वाले) तथा श्रद्धालु बैठते हैं। सर्वप्रथम मुख्य गायक वाद्यों के साथ ईश्वर की वन्दना, संजावली तथा सृष्टि–वर्णन करते हुए माहौल बनाते हैं। इस अवसर पर कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार गाई जाती है।

'' के संध्या झूली ऐगैं, पूरब खण्डा बटी
के संध्या झूली ऐंगै, आकास पताल बटी
के संध्या झूली ऐंगैं, राम कृष्ण ज्यूं की द्वारिका बटी
के संध्या झूली ऐंगैं, गढ़ गंगा, भागीरथी, सरस्वती, गोदावरी बटी''।

5.4.2 गाथा गायन – कुमाऊँ की लोक गाथाओं में राजूला–मालूशाही, बफौल गाथा गायन बहुत प्रचलित है। गाथा गायन के साथ सामूहिक नृत्य करने की भी प्रथा प्रचलित है। यह नृत्य कुमाऊँ के लोक नृत्य चाँचरी की शैली में किया जाता है। चाँचरी नृत्य का प्रयोग पूजा, अराधना, गीत नृत्य के रूप में भी होता है। देवी उत्सवों, पाण्डव नृत्य तथा किसी देवता से सम्बंधित मेले–त्योहारों में चाँचरी का प्रयोग किया जाता है। इसमें लय वाद्य ढोल तथा दमाऊ का प्रयोग किया जाता है। घर में पुत्र जन्म के अवसर पर उसके जन्म नक्षत्र को जानने के लिए ब्राहमणों के घर जाना इत्यादि बातें गाथाओं में आयी हैं। यहाँ यह कहा गया है कि गंगनाथ के जन्म के समय, गंगनाथ के जन्म से सम्बन्धित बाते जानने के लिए ब्राहमण से पूछते हैं। जैसे–

ज्वेंशि ज्यूँ का घर ज्वेशिज्यूँ कूँनन, महाराज! खड़न न्हाँती, पिणान न्हाँती
दाड़ न्हाँतिन भूल न्हाँतिन, चौदाँस की डोटी को राजा बणनेरछ।

5.4.3 मेले उत्सवों का संगीत – मेले उत्सवों तथा शुभ अवसरों पर लोक संगीत में ढ़ोल, दमाऊ, मसकबीन एंव हुड़का आदि वाद्यों की विशेष भूमिका रहती है। मेलों का मुख्य नृत्य, झोड़ा नृत्य है जो कि ढ़ोल–दमाऊ की लय पर किया जाता है। कभी–कभी मेलों में दो पृथक गाँव के ढ़ोल वादकों में वादन की प्रतिस्पर्द्धा भी हो जाती है। जिस देवी–देवता का मेला होता है उसी का प्रसंग लेकर गीत, नृत्य वादन को प्रस्तुत करते हैं। मेले में रणसिंह वाद्य का भी प्रयोग होता है। इस प्रकार उत्सवों में भी ढ़ोल की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। किसी भी उत्सव का आरम्भ ढ़ोल वादन के द्वारा ही होता है। किसी प्रकार के जुलूस में ढ़ोल–दमाऊ की जोड़ी प्रमुख रहती है। मेलों में एवं उत्सवों में कुमाऊँ का जनमानस, समूह में हुड़के की थाप पर लोक संगीत का आनन्द लेते हैं। इस प्रकार के संगीत में हुड़के के साथ थाली का प्रयोग नहीं किया जाता है। झोड़ा, चाँचरी, छपेली एवं छोलिया नृत्य कुमाऊँ क्षेत्र के मेलों तथा उत्सवों के प्रमुख अंग हैं।

5.4.4 झोड़ा – झोड़ा एक प्रकार का नृत्य गीत है। झोड़ा शब्द का मूल जोड़ा है। इसमें अधिक संख्या में स्त्री–पुरूष गोलाकार घेरा बनाकर एक दूसरे के कंधे मे हाथ रखकर आगे–पीछे पद संचालन करते हुए गीत गाते हैं। गोल घेरे के बीच में मुख्य गायक हुड़का वादन करते हुए गीत की पहली लाइन कहता है तथा अन्य लोग लयात्मक रूप में उसे दोहराते हुए गाते हैं। यह दो भागों में बँटकर या जोड़े बनाकर गाये जाने वाला गीत है। मुख्य गायक द्वारा गाई गई पंक्ति को पहले एक दल दोहराता है फिर दूसरा दल और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। गीत की पंक्तियाँ आगे बढ़ती जाती है। हर पंक्ति के साथ गीत के टेक के बोल भी दोहराए जाते हैं। गीत गायन की तेजी के साथ पद संचालन भी तेज होते जाते हैं। झोड़े स्त्रियों और पुरूषों के द्वारा अपने–अपने समूहों में भी गाये जाते हैं और सम्मिलित रूप में भी। यह उपासना स्थलों में रात्रि के समय गाया जाता है। इसमें एक व्यक्ति देवी–देवताओं की गाथा गाता है तथा अन्य श्रोता गीत के कुछ पदों की पुनरावृत्ति करते रहते हैं।

झोड़ा पंक्ति – **ईश्वर भगवाना तेरी जय–जयकारी हो।**
जगत छ त्यर, तेरी जय–जयकारी हो।

5.4.5 चाँचरी – चाँचरी कुमाऊँ का नृत्य गीत है जिसमें स्त्री एवं पुरूष समान रूप से सम्मिलित रहते हैं। चाँचरी सम्भवतः झोड़े का प्राचीन रूप है। इसका सबसे बड़ा आकर्षण वेशभूषा की रँगीनी तथा विभिन्नता है। कुमाऊँ में चाँचरी दानपुर क्षेत्र की नृत्य की शैली है। इसमें पद गीत का विशेष महत्व

रहता है। इस नृत्य में स्त्री एवं पुरूष दोनों भाग लेते हैं। गोलाकार में एक भाग में स्त्री तथा दूसरे भाग में पुरूष होते हैं। चाँचरी को स्त्री–पुरूष दोनों पृथक–पृथक रूप से भी गा सकते हैं। इसमें एक से अधिक गायक होते हैं। इसमें पद संचालन अधिक मन्द होता है तथा स्वरों के उतार–चढ़ाव में भिन्नता होती है। इसकी लय अधिक जटिल होती है तथा धुनों का खिंचाव लम्बा होता है। मेले, पर्व, त्योहार इसके लिए उपयुक्त अवसर हैं जिसमें पाँच–सात व्यक्तियों से लेकर तीन–तीन सौ व्यक्ति तक सम्मिलित हो कर नृत्य करते हैं। यह दो गायकों के बीच में प्रश्नोत्तर रूप में गाया जाता है। चाँचरी से मिलती–जुलती दूसरी गीत शैली 'झोडा' है। चाँचरी में धार्मिक भावना की प्रधानता रहती है। विशेषकर जटाधारी शिव–भैरव के प्रति अराधना का भाव सन्निहित रहता है, जैसै–

शिव जटाधारी भैरूँ तुम जे करला,
बदरीनाथ बली हो भैरूँ, तुमी जे करला।

5.4.6 छपेली – छपेली या 'छबीली' नृत्य गीत दो प्रेमियों का युगल गीत है। इस गीत में दो व्यक्ति होते हैं स्त्री और पुरूष। कभी–कभी पुरूष ही स्त्री की वेशभूषा पहनकर उसका अभिनय करता है। नर्तक के एक हाथ में रूमाल रहता है। पुरूष, हुड़का हाथ में लेकर नृत्य करता हुआ गाता है एवं स्त्री अपनी भाव–भंगिमा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करती है। 'छपेली' नृत्य पर आधारित गायन शैली है। विवाह, मेलों तथा उत्सवों के अवसर पर यह गीत गाये जाते हैं। स्त्री तथा पुरूष नृत्य द्वारा प्रेम अभिनय करते थे। स्त्री का स्थान अब स्त्री वेशधारी पुरूष ने ले लिया है। छपेली में श्रृंगार तथा प्रेम का निरूपण होता है। प्रायः प्रेमाभिव्यक्ति ही इसका विषय रहता है। इसमें प्रश्नोत्तर एवं स्वतंत्र रूप में भी गीत गाये जाते हैं। छपेली शब्द 'छबीली' से बना है। जहाँ पर छबीली स्त्रियाँ बैठी हों अथवा जिस गीत में छबीली स्त्रियों का प्रसंग वर्णित हो ऐसा नृत्य गान 'छपेली' कहा जाता है।

ओ साइ वे, किमु पाकी रैया। खैजा साइ वे, किमु पाकी रेया।।

5.4.7 न्यौली – न्यौली कुमाऊँ लोक गीतों की एक विशेष शैली है जिसकी उत्त्पत्ति नवल या नवेली शब्द से मानी गई है। ये गीत वियोग श्रृँगार रस लिये होते हैं। ''न्यौली'' कोयल की एक पहाड़ी प्रजाति है। जिसे कुमाऊँ में विरह का प्रतीक माना गया है जो प्रियतम के वियोग में पहाड़ी जंगलों में निरन्तर रोती रहती है। यह लोक भावना तथा लोक परम्परा के अनुरूप है। न्यौली आलाप प्रधान गीत है। इसमें लय वाद्य का प्रयोग नहीं होता है। यह अनुभूति प्रधान तथा संगीत प्रधान लोक गीत है जिसमें दो–दो पंक्तियाँ होती हैं। प्रथम पंक्ति प्रायः असम्बद्ध जोड़ होती है जिसका प्रयोग केवल तुक मिलाने के लिए प्रतीत होता है तथा दूसरी पंक्ति में गीत का मुख्य भाव होता है, जैसे–

काटन्या–काटन्या पैली आयो चौमासी को बना,
बगन्या पानी थामी जाँछो, नी थामीनो मना।

5.4.8 बैर – ''बैर'' कुमाऊँ लोक गीतों की एक गायन शैली है जिसमें दो बैर गायकों के बीच में गीतों के माध्यम से तर्क–वितर्क द्वारा प्रश्नोत्तर की शैली में एक तरह की प्रतियोगिता होती है। इसलिए इसे तर्क प्रधान गीत कहा गया है। इसमें गीतात्मक वाद–विवाद द्वारा एक दूसरे को पराजित करना होता है। ''बैर'' गाने वालों को बैरिया कहा जाता है। बैर गायन शैली में किसी संगीत वाद्य का प्रयोग नहीं किया जाता वरन गायकों का कंठ गायन ही मुख्य आधार रहता है।

इसमें दुरूहता एवं कौतुहल का समावेश रहता है। जो प्रश्न जितना गूढ़ और जटिल होगा तथा उसका उत्तर जो जितने युक्तिपूर्ण ढ़ंग से देगा वही श्रेष्ठ बैरिया माना जाएगा।

जैसे – दो तारी का तारा अल्म्वाड़ा मोटर चली, नैनताला कारा।
गिवाजों की चारा, फुटिया करम जसा फुटिया विचारा
काणी आँखी रीता भाना, सुपना हजारा, कौंली ब्वारी नजर लगै, आँखी लागी धारा...।

5.4.9 भगनौल – भगनौल एक प्रकार का गद्य काव्य होता है जिसका विषय मुख्य रूप से प्रेम एवं सौन्दर्य पर आधारित होता है। इसमें एक टेक का पद होता है जिसमें मुख्य गायक अन्य पंक्तियों को जोड़ता चला जाता है। वस्तुतः भगनौल एक तरह की गायन शैली है। विषय वस्तु की दृष्टि से यह न्यौली गीतों के समकक्ष ठहरती है। मुख्य गायक टेक पद का आलाप करता है जिसे उसके दूसरे साथी दोहराते चले जाते हैं। इस प्रकार उसे स्वर विस्तार देते हैं। यह रूप छन्द प्रधान है। इसमें केवल दो–दो पंक्तियों के जोड़ हुआ करते हैं। वास्तव में ये दो पंक्तियाँ ही 'भगनौल' के मूलरूप हैं। प्रेम सौन्दर्य विषयक भावों की विविधता इनमें पर्याप्त है। जैसे–

झगुलि को घेरा
भुमिकणि बाकर दिया, तू आली कै बैरा।

5.4.10 छोलिया – छोलिया नृत्य कुमाऊँ का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं परम्परागत लोक नृत्य है। इस नृत्य के नर्तक को स्थानीय बोली में छलेर या छलिया कहा जाता है। छलेर का अर्थ है दूसरों को धोखा देने वाला या कपट करने वाला। अतः कहा जा सकता है कि एक दूसरे के साथ कपट पूर्वक, धोखे का आशय लेकर विविध प्रकार की पैंतरेबाजी, प्रहार एवं आत्मरक्षा की विविध भाव–भांगिमाओं को प्रकट करते हुए दो नर्तकों के मध्य ढ़ाल–तलवार द्वारा होने वाला शस्त्र युद्ध ही 'छोलिया' नृत्य है। इस नृत्य में दो छली नर्तक होते हैं जो ढ़ाल–तलवारों के संचालन में पारंगत होते हैं। इस नृत्य में बजने वाली बाजे की शैली छोलिया बाजा कहलाती है। इसमें ढ़ोल, दमाऊ, मसकबीन एवं झाँझ वाले का भी सहयोग रहता है।

5.4.11 जोड़ – जोड़ने की क्रिया को 'जोड' कहा गया है। दो या अधिक वस्तुएँ के जुड़ने का स्थान, संधि–स्थल, वह टुकड़ा जो किसी चीज में जोड़ा जाय। 'जोड़' कुमाऊँनी लोक गीतों की एक ऐसी विधा है जिसका बहुविध प्रयोग होता है। झोड़ा, चाँचरी, भगनौल तथा बैर में गीतों को प्रारम्भ करने, उन्हें अगली भाव भूमि से जोड़ने तथा गीतात्मकता एवं भावधारा में निरन्तरता बनाये रखने में टेक पद के रूप में 'जोड' गीत शैली का प्रयोग होता है। जोड़ भावलड़ियों एवं गायन पद्धतियों को परस्पर जोड़ने का काम करते हैं। इसलिए लोक गायकों ने इसे जोड़ नाम दिया होगा। कुमाऊँनी शष्दकोशों में जोड़ को कुमाऊँनी गीतों का एक ऐसा प्रकार माना गया जिसमें पहली पंक्ति का गायन, दूसरी पंक्ति के साथ केवल तुक मिलाने के लिए किया जाता हे। जैसे–

दातुलै की धार, अदगाड़ छोडी गैछै, न वार न पार।
दराती की धार मझधार में छोड़ गई न इस पार न उसपार।।

5.4.12 संस्कार गीत – पुत्र जन्म, छठी, नामकरण, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों के अवसर पर स्त्रियों द्वारा सामूहिक रूप से गाये जाने वाले मंगल गीत, संस्कार गीत के नाम से जाने जाते हैं।

इन संस्कार गीतों को कुमाऊँनी में 'फाग' तथा इन्हें गाने वाली महिलाओं को 'फगार' कहते है। यह संस्कार तथा शुभ कार्यों के आरम्भ में अनिवार्य रूप से गाये जाते हैं। यह गीत शकुनाखर, सगुन या 'सोगुना' कहलाते हैं। जैसे इसमें सर्वप्रथम कार्य–सिद्ध के लिए गणेश जी का नाम लिया जाता है। जैसे– शकुनाखँर गाकर – जैसे

शकुना दे, शकुना दे काज ऐ नीका.....।

5.4.13 कृषि गीत – कुमाऊँ में प्रसिद्ध कृषि गीत 'हुड़की बौल' के नाम से जाना जाता है। बौल से तात्पर्य परिश्रम से है। इसमें हुड़का प्रमुख वाद्य यंत्र होता है। हुड़के के साथ गाये जाने वाले इन गीतों को 'हुड़की बौल' कहते हैं। इसका आशय यह है कि हुड़के के स्वर के साथ किये जाने वाले श्रम से सम्बन्धित गीत 'हुड़की' बौल' कहलाते हैं।

जी रया, जी रया तुम सब लोग,
जी रया, जी रया कुड़ी को पुरीखा,
जी रया, जी रया गोदी को बालो,
जी रया, जी रया गोठ को बल्दो।

5.4.14 ऋतु गीत – ऋतुगीत को 'ऋतुरैण' चैतू या चैती भी कहते हैं। चैत्र में भाई–बहन की कुशलता का वर्णन होता है। यह गीत केवल चैत मास के आने पर ही उसके स्वागत हेतु गाये जाते हैं। कुमाऊँ में सर्वत्र जो गीत ऋतुगैरण या चैती के नाम से गाये जाते हैं, उसका सम्बन्ध भाई–बहन की करूण कथा से है। चैत्र मास में भाई द्वारा अपनी विवाहिता बहन को 'भिटौली' देने की प्रथा है। भाई से बहन अपने मायके की कुशलता पूछती है। भाई द्वारा बहन को पूरा वृतान्त मायके का बताया जाता है। इस महिने में बसन्त त्रृतु के नव आगमन पर 'फूलदेई' का त्यौहार मनाया जाता है। इस दिन बालक–बलिकाएँ थालियों में चावल, फूल, गुड़ रखकर घर–घर जाकर उनके घरों में इनको बिखेरते हैं तथा बिखेरते हुए फूल देई छम्मा देई गाते हैं। इसमें गृह स्वामिनी के प्रति मंगल कामना इस प्रकार से प्रकट की जाती है।

फूल देई, फूल देई, फूलों संग्यान, सुफल करो नौं बरस तुमुकैं भगवान ।
मौति की नराई, लागिया चेली, छाजा बैठी गोरी घाना आँसु वे ढ़ालन छ।

5.4.15 होली संगीत – होली का त्यौहार कुमाऊँ क्षेत्र में विशेष हर्ष एवं उल्लास के साथ मानाया जाता हे। यहाँ होली का मुख्य आकर्षक यहाँ का संगीत रहता है। कुमाऊँ में तीन प्रकार की होली गायन की परम्परा प्रचलित है जो भिन्न–भिन्न स्वरूप लिये होती है।

5.4.15.1 खड़ी होली – खड़ी होली कुमाऊँ में एक पुरूष तथा स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला नृत्य है। इसमें नृत्य समूह में किया जाता है। यह झोड़ा शैली की भाँति होता है। इसमें पद संचालन झोड़ा से थोड़ा भिन्न होता है। यह स्त्री एवं पुरूष द्वारा संयुक्त रूप से किया जाता है। खड़ी यहाँ की स्थानीय भाषा में होती है। होली के प्रसंग देवी–देवताओं के तथा श्रृंगारिक भाव के होते हैं जिसमें होली का वर्णन रहता है।

खड़ी होली– **भज रघुवर श्याम युगल चरणा।**
इत है अयोध्या निर्मल सरयू।
उत शीतल गंगा यमुना।।

5.4.15.2 महिला बैठकी होली – होली के अवसर पर महिलाओं द्वारा बैठी होली गायन की परम्परा भी है। मंदिरों में और घरों में महिलाएँ समूह में होली गायन करती हैं। इसमें मुख्य वाद्य ढोलक एवं मंजीरा रहता है। महिला होली के प्रसंग धार्मिक एवं श्रृंगारिक दोनों ही रहते हैं, परन्तु गायन का आरम्भ देवी–देवताओं की होली के रूप में स्तुति से किया जाता है। महिलाओं द्वारा कुछ होलियाँ कुमाऊँनी में तथा बृज भाषा में रचित होली गाने की भी परम्परा है। महिलाओं द्वारा गाई जाने वाली होली गायन शैली पुरूषों की खड़ी होली से मिलती है। इसमें भी कुछ राग होली गायन में स्पष्ट होते हैं। जैसे–

भव भंजन गुण गाऊँ,
मैं अपने हरि को रिझाऊँ।

5.4.15.3 बैठ होली (पुरूष) – पुरूषों की बैठी होली को नागर होली भी कहा जाता है। इसका प्रचलन गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक है। यह होली शास्त्रीय संगीत के रागों पर आधारित होती है। बैठी होली दो प्रकार की होती है–धमार एव चाँचर। इन दोनों शैलियों में तबले की संगत होती है तथा लोटा, मंजीरा भी साथ में बजाया जाता है। इनके गीतों की भाषा ब्रज भाषा होती है। मुख्य रूप से यह कई रागों में गाई जाती है जैसे काफी, खमाज, पीलू, देस, जैजैवन्ती आदि। इसमें राग काफी मुख्य रूप से रहता है।

राग काफी होली – **पैलागूँ कर जोरी, श्याम मोसे खेलो न होरी,**
अब के फाग पिया होली नहिं खेलो।
अजहूँ उमर की मैं बाली।

5.4.16 संवाद गीत – गीतों के माध्यम से आपस में होने वाले संवाद को 'संवाद' गीत कहते हैं। ये बैर से भिन्न होते हैं। इसमें बैर, भगनौल व न्योली की तरह पहली लाइन के रूप में असम्बद्ध जोड़ व तुकबन्दी नहीं होती। ये व्यक्तिगत तथा सामाजिक विषयों से सम्बन्धित होते हैं। इनको तीन प्रकार का माना गया है स्त्री–पुरूष के गीत, केवल पुरूषों के गीत एवं केवल स्त्रियों के गीत। स्त्री–पुरूष संवाद–प्रधान गीतों में दो प्रेमियों या नजदीकी सम्बन्धियों के बीच में गीत द्वारा संवाद होता है। इस तरह के गीतो में जीजा–साली के गीतों को लिया जा सकता है। जैसे

जीजा – ''पारा रे भिड़ा को छै घस्यारी, मालू वे तु मालु नि काट।''
साली – भैंसि ब्यै रैछ थोरि है रैछ, मालू काटन दे, मालु।''

5.4.17 अुनष्ठानिक गीत – विभिन्न लोक गीतों के अतिरिक्त कुमाऊँ में देवी–देवताओं तथा व्रत–त्यौहारों से सम्बन्धित गीत भी गाये जाते हैं। जिनमें शिव–पार्वती विषयक गीत अधिक हैं, जबकि विष्णु अवतारों के गीत कम हैं। इसमें पूजा, अर्चना के गीत भी गाये जाते हैं। जिसमें 'मासा' फूल को देवताओं को चढ़ाये जाने से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं।

ऊँच हिमाल हुँछ मासिक फूल, को देव चढूँल मासिक फूल,
थाति को थत्वाल चढ़ौल मासिक फूल।

5.5 गढ़वाल का लोक संगीत

किसी भी संस्कृति में लोक कलाओं का अपना विशेष महत्व होता है। संगीत की अविरल रूप से बहने वाली दो धाराओं में एक शास्त्रीय संगीत है तो दूसरा लोक संगीत, जो समूचे भारत की संस्कृति को उजागर करता है। गढ़वाल का हृदय संगीतमय है। यहाँ की हरी–भरी धरती गाती है। गढ़वाल में विभिन्न अवसरों पर अलग–अलग लोक गीत गाये जाते हैं।

5.5.1 मांगल गीत – मांगलिक अवसरों पर गाये जाने वाले गीत मांगल गीत कहलाते हैं। वैदिक ऋचाओं की तरह गढ़वाल के मांगल गीतों में पहले कार्य सिद्धि के लिए गणेश, ब्रहमा, अग्नि, शिव आदि देवताओं का आह्वान किया जाता है। गढ़वाली मांगल गीतों को शुभ–अवसरों पर गाया जाता है। इसके बाद परिवार के सभी सदस्यों को आशीर्वाद दिया जाता है कि उनका जीवन सुखमय हो। गढ़वाली मांगल गीतों का अस्तित्व वैदिक युग में विवाह, पुत्र जन्म, आदि शुभ अवसरों पर सरस गायन करने की परम्परा का उल्लेख मिलता है। गढ़वाली मांगलिक गीतों में वैदिक आर्यों का सरल हृदय भाव भी प्राप्त होता है। जैसे–

पोखरी का हित जय यश दे।
तेरी जाति आयो जय यश दे।
भेंटुली क्या लायो जय यश दे।
जाति तेरी आयो जय यश दे।

5.5.2 बांद गीत – बांद गीत द्वारा मंगल स्नान से पूर्व की क्रिया जिसमें सुहागिन स्त्रियाँ दोनों हाथों में दूब के गुच्दे लेकर हल्दी, दही आदि को पाँच या सात बार कन्या के पैर, घुटनों, कंधों तथा सिर से छुवाती हुई बांदना रूप में स्नान की भूमिका प्रस्तुत करती हैं। इसमें इस प्रकार का बांद–गीत गाया जाता है। जैसे–

बांद देली दीदी स्वागीण।
बांद देली चाची स्वांगीण।
बांद देली बौजी स्वांगीण।
बांद देली मांजी स्वागीण।
जियरान– जियरान मांजी स्वागीण।

5.5.3 देवी–देवताओं के गीत – जागर गीत का गायन देवताओं को जागृत करने के लिए किया जाता है। यह जागर देवताओं को जागृत करने के लिए रात भर चलता रहता है इसलिए देवी–देवताओं से सम्बन्धित लोक गीतों को सामान्यतः जागर कहा जाता है। यह लिपे–पुते स्वच्छ स्थान पर सीमित स्थल पर हुड़के, डमरू तथा काँसे की थाली को बजाकर गाये जाते हैं। ये गीत देव नृत्यों के साथ रात भर जागरण पर पुरोहित द्वारा देव शक्ति को जागृत करने के लिए गाये जाते हैं। जागर गीतों में डमरू, थाली, ढ़ोल–दमामें को औजी और हुडक्या, हुड़की को बजाते, और देवताओं के यशगान को गाते हुए देवताओं के पस्वा को विभिन्न प्रकार से नचाता है। जैसे–

है बीजी जावा बीजी बल खोली को गणेश,
है बीजी जावा बीजी बल पंचनाम देवता।
है बीजी जावा बीजी बल फैलायु महादेवान,
है बीजी जावा बीजी बल कुन्ती का पाण्डव–

इसी प्रकार अन्य देवताओं का नाम लेकर आगे बढ़ता रहता है।

5.5.4 झुमैलो गीत – **झुमैलो** अत्यन्त कारूणिक नृत्य गीत है। जिसमें श्रंगार नहीं होता है। झुमैलो गीत खुदेड़ गीतों के अन्तर्गत ढ़ाहा गीतों का साथी है। इसमें नारी का मायके से लगाव, मायके की स्मृति तथा प्रतीक्षारत मन इसी की अभिव्यक्ति हुई है।

5.5.5 छोपती गीत – यह गीत गढ़वाल के खाई, जौनपुर क्षेत्र तक सीमित है। छोपती गीत मुख्यतः रूप एवं प्रणय के गीत होते हैं। बारी–बारी से स्त्री एवं पुरूषों का समूह एक दूसरे के प्रश्नों का उत्तर–प्रत्युत्तर देता जाता है। एक समूह की कही गई पंक्ति को दूसरा समूह दोहरा कर अपनी बात कहता है इसके अतिरक्ति हर एक छोपती गीत की अपनी टेक होती है जो हर समय दोहराई जाती है जिसको किसी स्थिति में उसको बदला नहीं जा सकता है। छोपती गीत स्त्री–पुरूषों के मण्डल का गीत होता है। इस स्थिति में पैरों को दो कदम आगे तथा एक कदम पीछे करते हुए नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीत 'छोपती' कहे जाते हैं। यह संवाद प्रधान गीत है। यह गीत अत्यन्त करूणामय होते हैं। आम तौर पर इस गीत पर नृत्य किया जाता है।

5.5.6 लामण गीत – लामण मुख्यतः प्रेम गीत है। वैसे बाजूबन्द छोपती आदि गीतों के विषय प्रेम ही हैं, किन्तु बाजूबन्द तथा छोपती में संवाद होते हैं। इसमें भी बाजूबन्द गाये जाते हैं। छोपती एवं लामण विशेष अवसरों पर नृत्य के साथ शैली, छन्द तथा लय की दृष्टि से भी अलग–अलग ठहरते हैं। लामण गीतों में मिलाने के लिए एक निरर्थक पंक्ति नहीं जोड़ी गई है वरन दोनों पंक्तियाँ कविता की भाँति सार्थक होती है। लामण गीत रंवाई में त्योहारों के अवसर पर प्रायः गाये जाते हैं और ये मुख्यतः संयोग श्रंगार के गीत है। विरह की भावना इनमें नहीं के बराबर व्यक्त होती है।
लामण लोक गीत प्रस्तुत है–

लामण लान्दरिया किति लामण जाणे, डोड़ी के भीतर फीमेर बुंगा,
काई शुण टीर, कोई शण पाइवा तुंगा।

5.5.7 पवाड़ा गीत – गढ़वाल में लौकिक लोक गथाओं को 'पवाड़ा' कहा जाता है। पवाडों का आरम्भ महाभारत काल से माना गया है। इसमें पाण्डव गीतों एवं देवी–देवताओं के गीतों में वंश चक्र का उल्लेख होता है। 'पवाड़े' वीर भावना के गीत हैं। गढ़वाल में इन पवाड़ो को भी देव–रूप प्राप्त हो जाता है जिसमें वीरों के पवाड़े हैं उनके वंश में आज भी उनकी पूजा होती है। गढ़वाली पवाड़े मध्यकाल की रचनाएँ मानी जाती हैं।

5.5.8 खुदेड़ गीत – स्मृति दुख सम्बन्धित गीत गढ़वाल में खुदेड़ गीत नाम से जाने जाते हैं। इसमें दूर ससुराल में रहने वाले नव परिणिता बालिका वधू की आन्तरिक वेदना का वर्णन होता है। वह अपने मन की पीड़ा प्रकृति के द्वारा व्यक्त करती है। खुदेड़ गीतों में प्रकृति के अतिरिक्त पक्षियों का अवलम्ब प्राप्त होता है। यह बहुत करूण गीत होते हैं। यह गीत कन्याओं के द्वारा ही गाये जाते हैं।

5.5.9 बासन्ती गीत – यह गीत प्रकृति प्रेमी महिलाओं द्वारा बसन्त ऋतु में गाये जाने वाला उल्लासमय गीत हैं। बसन्त, जीवन में उठते यौवन तथा दाम्पत्य सुख का प्रतीक है। गढ़वाल के कई भागों में बसन्त पंचमी के अवसर पर जौ की हरियाली बाँटते हुए बसन्त स्वागत के गीत घर–घर में गाये जाते हैं। चैत के महिने में कन्याएँ प्यूँली के फूल चुनकर सुबह–सुबह घर की देहलियों में डाल जाती है एवं बसन्त के स्वागत में बासन्ती गीत गाते हैं। इन गीतों में मुख्यतः वृक्ष तथा लताओं में मुकुलित होने तथा फूलों के खिलने का वर्णन करती है। जैसे–

आई ऋतुड़ी के सुण मुणया रे, आई गयो वालो बसन्त रे।
फूलण लैगी गाडू की प्लोयड़ी, फूली जालू जंडू बुरांश।।

इस गीत का भाव इस प्रकार है– सुहावनी ऋतु आई है बसन्त रूपी बालक आ गया है। नदी के तटों की प्यूँली फूलने लगी है। शिखरों पर अब बुरांश फूलने लगा है।

5.5.10 बारहमासी गीत – गढ़वाली लोक संगीत में इन्हें बारहमासो कहकर पुकारा जाता है। प्राकृतिक स्थिति तथा उसमें खेतों में किये जाने श्रम जैसे–फसल काटना, गोड़ाई करना, बोना आदि का उल्लेख है। बारहमासी गीतों में लोक की स्वाभाविक व्यंग्य एवं हास–परिहास की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। चौमासा गीत वर्षा कालीन होता है। इस गीतों को कोमल हृदय का संगीतमय गीत कहा गया है। इन गीतों में विदेश में गये प्रीतम की याद बरसात में किस तरह आती है उन भावों का वर्णन होता है।

5.5.11 नौंन्याली गीत – बालकों के द्वारा स्वयं ही अपने मनोरंजन के लिए गाये जाने वाले गीत 'नौन्याली' गीतों के नाम से जाने जाते हैं। यह गीत बालिकाएँ एवं बालक गोल घेरे में हाथ मिलकार नाचते हुए गाते हैं। स्थानीय बोली में इस नृत्य को कौलपती कहा जाता है। जो छोपती नृत्य का ही स्वरूप होता है।

5.5.12 होली गीत – गढ़वाली होली गीत उल्लास एवं रसिकता लिए होते हैं। विशेष रूप से होलिका दहन के अवसर पर ग्रामीण जन उसके चारों ओर नाच–नाच कर होलियाँ गाते हैं। गढ़वाल में प्रचलित होली गीतों से यह ज्ञात होता है कि होली के गीत राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं से ही सम्बन्धित नहीं होते। सामान्यतः वह राम, कृष्ण की प्रेम लीलाओं से ही सम्बन्धित नहीं होते। सामान्यतः वह राम, कृष्ण तथा शिव को भी सम्बोधित करते हैं। जैसे–

भोलेनाथ दिगम्बर मेरे सब दुख हरो,
चंदन चावल बेल की पत्ती, शिव के माथे धरो,
होली खेले सदा शिव धननुम धना।
चल पिचकारी सन्नन्।

5.5.13 लोरी गीत – वह गीत जो बच्चों के मनोरंजन तथा उनको सुलाने के लिए माँ एवं स्वजनों द्वारा गाये जाते हैं उनको लोरी गीत कहते हैं। गढ़वाल में एक लोरी गीत को गाये जाने की परम्परा है। जैसे–

घूंगती मां सूती क्या खांदी दूद भाती,
से जा, से जा निन्दैवाली सेणके रोंद।

इस लोरी को गाने की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। आज भी बुजुर्ग महिलाएँ जिन परिवारों में है वह भाव–विभोर होकर इस लोरी को अपने नाती–पोतों के लिए गाते सुनाई पड़ती हैं।

5.6 उत्तराखण्ड के प्रमुख लोक वाद्य

उत्तराखण्ड अपनी लोक कलाओं, लोक गीतों एवं अनेक प्रकार के वाद्य यंत्रों के लिए प्रसिद्ध है। वाद्य यंत्र चाहे किसी भी प्रदेश के हों वहाँ की संस्कृति को उजागर करते हैं। संगीत एवं नृत्य को मुधर बनाने के लिए वाद्य यंत्रों का प्रयोग किया जाता है। लोक संगीत एवं वाद्य यंत्रों का अटूट समब्न्ध है। उत्तराखण्ड के विभिन्न अवसरों जैसे–उत्सवों, पर्वों, धार्मिक अनुष्ठानों, देवयात्राओं, मेलों तथा मांगलिक अवसरों पर वाद्य यंत्रों का उपयोग किया जाता है। उत्तराखण्ड में वाद्य यंत्रों का अपना एक विशेष महत्व है।

5.6.1 ढोल – ढोल उत्तराखण्ड का सर्वश्रेष्ठ वाद्य यंत्र है। ढोल का निर्माण प्रलय के पश्चात् सृष्टि की निस्तब्धता को भंग करने के लिए ब्रहमा, विष्णु, शिव और पार्वती ने किया था ऐसी मान्यता है। ढोल में लकड़ी या ताँबे के बेलनाकार खोखल के दोनों ओर चमड़ा मढ़ा रहता है। इसे एक ओर लकड़ी तथा दूसरी ओर हाथ से बजाया जाता है। स्वतत्र रूप में ढ़ोल नहीं बजता है, इसके साथ दमाऊ भी बजता है।

5.6.2 हुड़का – हुड़का उत्तराखण्ड का सर्वाधिक प्रचलित और प्रसिद्ध वाद्य यंत्र है। यह लकड़ी का डमरूनुमा आकार का वाद्य यंत्र होता है। यह दोनों ओर झिल्ली से मढ़ा होता है जिसमें डोरियाँ कसी होती हैं। इसका प्रयोग विशेष रूप से जागर में किया जाता है। जागर में देवताओं का आहवान करने के लिए हुड़के साथ सहवाद्य यंत्र के रूप में काँसे की थाली बजती है। थाल दो पतली लकड़ियों से बजाई जाती है। हुड़के का प्रयोग सभी प्रकार के गीतो, नृत्य–गीतों एवं मुक्तक गीतों में होता है। यह स्वतंत्र रूप से भी बजाया जाता है।

5.6.3 रणसिंगा – रणसिंगा भी उत्तराखण्ड का एक विशेष वाद्य है। कही इसे भ्वांकर भी कहा जाता है। इससे युद्ध की सूचना अथवा सेना के प्रयाण के समय बजाता है। इसका प्रयोग दमाऊ या दमाम के साथ होता है। इसका आकार मुड़े हुए सींग अथवा फन उठाए सर्प की तरह होता है।

5.6.4 मसकबीन – यह वाद्य मूलतः स्काटलैण्ड का वाद्य है। कहा जाता है जो अंग्रजों के माध्यम से उत्तराखण्ड में पहुँचा। इसका प्रयोग कुमाऊँ में छोलिया नृत्य के साथ होता है। उत्तराखण्ड में अब यह वाद्य लोक वाद्य के रूप में स्थापित हो गया है। स्वतंत्र रूप में मसकबीन का प्रयोग प्रायः नहीं होता है। यह वाद्य फूँक द्वारा बजाया जाता है। मसक से एक बीन तथा तीन नलड़ियाँ जुड़ी रहती हैं।

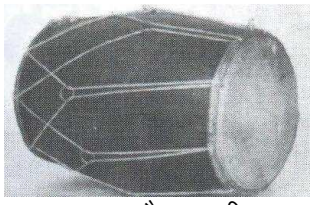

5.6.5 ढोलक – यह ढ़ोल की भाँति छोटे आकार की होती है जिसे दोनों हाथों से बजाया जाता है। मांगलिक पर्वों पर स्त्रियों के गीत प्रायः ढोलक की ताल पर ही गाये जाते हैं। इसके पूड़े बकरी की खाल के बने होते हैं। डोलक की रस्सियों पर सुर को सही करने के लिए लोहे के छल्ले लगे रहते हैं। जिससे रस्सियों को ढीला अथवा कसा जाता है। शादी, ब्याह, होली, परिवारिक कार्यों में महिलाओं द्वारा अधिकतर ढ़ोलक बजायी जाती है।

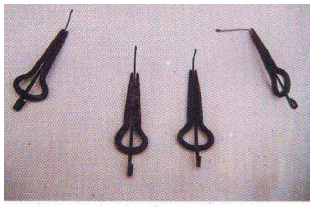

बिणाई

5.6.6 बिणै (बिणई) – बिणई लोहे का बना एक छोटा सा वाद्य यंत्र है जिसे मुँह में रखकर दाँतों से दबाया जाता है तथा उसके तार पर उँगली से आघात किया जाता है। इसके स्वर बहुत मधुर होते हैं। इन स्वरों में करूणता रहती है। इसे 'मोंहग' या 'मुहचंग' भी कहा जाता है।

उत्तराखण्ड के लोक संगीत में स्वर वाद्य का प्रयोग कम है तथा लय–ताल का प्रयोग अधिक होता है।

अभ्यास प्रश्न

क) लघु उत्तरीय प्रश्न :–

1. कुमाऊँ में गाये जाने वाले किसी लोक विधा का नाम लिखिए जिनमें ताल वाद्य का प्रयोग नहीं होता है।
2. गढ़वाल में गाये जाने वाले लोक संगीत की दो विधाओं के नाम लिखिए।
3. गढ़वाल में ऋृतु से सम्बन्धित गाये जाने वाले गीत का नाम लिखिए।
4. कुमाऊं के संस्कार गीत क्या कहलाते हैं?
5. कुमाऊं का प्रसिद्ध गीत किस नाम से जाना जाता है?

5.7 सारांश

इस इकाई में आपने उत्तराखण्ड के लोक संगीत का विस्तृत अध्ययन किया है। लोक संगीत से किसी क्षेत्र विशेष की सांस्कृतिक परम्पराओं का ज्ञान होता है। उत्तराखण्ड का लोक संगीत भी मनोरंजन के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर प्रयोग किया जाता है, जिसका ज्ञान आपको इस इकाई के माध्यम से प्राप्त हो गया है। उत्तराखण्ड के लोक संगीत में स्वर वाद्यों की अपेक्षा लय–अवनद्य वाद्यों का विशेष महत्त्व है जो कि आप इस इकाई के माध्यम से जान गये हैं। उत्तराखण्ड में दो क्षेत्र कुमाऊँ एवं गढ़वाल हैं जिनकी सांस्कृतिक परम्परा कुछ भिन्न भी है तथा लोक संगीत का प्रयोग भी इन दोनों क्षेत्रों में उसी प्रकार होता है। इस भेद को भी आप इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् जान सकेंगे।

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क) लघु उत्तरीय प्रश्न :–

1. न्यौली
2. लामण, छोपती गीत
3. बासन्ती गीत
4. शकुनाखर
5. हुडकी बौल

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाण्डे, बद्रीदत्त, कुमाऊँ का इतिहास।
2. बिष्ट, प्रो0 शेरसिंह, श्री नन्दा देवी स्मारिका सन् 2009।
3. साह, डॉ0 इला, श्री नन्दा देवी स्मारिका–2012।
4. चाँचरी, झोड़ा, छपेली, नृत्य गीत, युगमंच द्वारा प्रकाशित।
5. नौटियाल, डॉ0 शिवानन्द, उत्तराखण्ड की लोक गाथाएँ।
6. पेटशाली, जुगल किशोर, उत्तरॉचल के लोक वाद्य।

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कुमाऊँ के लोक संगीत के विषय में लिखिए।
2. गढ़वाल के लोक संगीत के विषय में लिखिए।
3. उत्तराखण्ड के लोक वाद्यों के विषय में लिखिए।